व्यक्ति और राज

सम्पूर्णानन्द

व्यक्ति और राज

लेखक—

श्री सम्पूर्णानन्द

प्रकाशक

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी ।

ज्ञानवापी, बनारस

तृतीय बार] १६४८ [मूल्य १=)

प्रकाशक—
श्री बैजनाथ केडिया
हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
ज्ञानवापी, बनारस

शाखाएँ—
२०३ हरिसनरोड, कलकत्ता,
बॉकीपुर, पटना
दरीबाकलाँ, दिल्ली

मुद्रक—
कृष्ण गोपाल केडिया
वणिक प्रेस,
साक्षीविनायक, बनारस

ॐ

सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः सहस्रपात ।

एकोऽप्यनेकवद्भाति, तस्मै सूत्रात्मने नमः ।।

लोकानाम् लोकपालानाम्, मर्यादाः संप्रवर्तिताः ।

भुक्त्यै मुक्त्यै च येनादौ, तस्मै श्री मनवे नमः ।।

भारत के व्यथित हृदय को समर्पित

भूमिका

आज पृथ्वीमें भयावह उथल-पुथल मच रहा है। इतना ही नहीं है कि कई बलवान् राष्ट्र एक दूसरेसे लड़ रहे हैं और शेष भी सम्भवतः युद्धकी परिधिमें आनेवाले हैं, परन्तु जहाँ लड़ाई नहीं है वहाँ भी भीतर-भीतर ज्वालामुखी दहक रहा है। पूँजी-वादने साम्राज्यवादका प्रसव किया। अपने देशमें और अपने देशके बाहर जो दूसरोंका जितना ही शोषण कर सकता है वह उतनी ही प्रतिष्ठा पाता है। धर्म्म, विज्ञान, दर्शन, वाङ्मय, कला—वह सब बातें जो मानव संस्कृतिकी अमूल्य सन्तति हैं, जिन्होंने अपने तेजसे सभ्यताके इतिहासके काले धब्बोंको ढक दिया है—लक्ष्मीपुत्रोंके दर्बारोंकी शोभा बढ़ानेके उपकरण हैं। जिनके हाथोंमें राजसञ्चालनका पवित्र दायित्व है, वह वासनाके दास हो रहे हैं। एक ओर लोकतन्त्र देशोंमें यह अन्धेर मच रहा है, दूसरी ओर अधिनायक तन्त्र कायम हो रहे हैं। लोगों-की स्वतन्त्रता छिन गयी और कोई सिर उठानेका साहस नहीं करता। प्रचारके साधनसे जनताको यही समझाते हैं कि स्वतन्त्रता छिन जानेमें ही उसका कल्याण

इसके दो-तीन परिणाम देख पड़ते हैं। एक ओर तो उन लोगोंमें जो नेतृत्व ले सकते थे, उदासीनता, अकर्मण्यता बढ़ती जाती है। वह ऐसा अनुभव करते हैं कि हाथ-पैर चलाना व्यर्थ है। स्वतन्त्रता, स्वाधीनता, प्रजाके अधिकार, लोकमत आदि शब्द निरर्थक हैं, इनका उच्चारण करके अपना जी दुखाना पागलपन है। खाना-पीना, मनोविनोद करना और चुपकेसे मर जाना—बस जीवनका यही लक्ष्य है। दूसरी ओर सामान्य जनता एक अव्यक्त अशान्तिकी शिकार हो रही है। उसकी भौतिक आवश्यकताएँ चाहे पूरी भी हो जाती हों पर उसके चित्तमें किसी चीजकी भूख बनी रहती है। यह चीज क्या है इसे वह स्वयं नहीं समझ पाती। वह असन्तुष्ट है पर क्या चाहती है यह बतला नहीं सकती। उसे इसका पता नहीं है कि स्वतन्त्रताके अभावमें मनुष्यकी आत्मा अतृप्त रहती है, क्योंकि स्वाधीनता उसका स्वभाव, उसका स्वरूप है।

आज भारत स्वराज्यके प्रश्नपर विचार कर रहा है। उसने राजनीतिक स्वातन्त्र्य प्राप्त करनेका संकल्प कर लिया है और ऐसी आशा है कि अनेक विघ्नबाधाओंके होते हुए भी उसको अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें शीघ्र ही सफलता होगी। यहाँ भी किसी न किसी प्रकारका अपना राज स्थापित होगा।

उस राजमें शासनव्यवस्था तो चाहे जैसी हो, पर यह तो आशा करनी ही चाहिये कि उसका स्वरूप लोकतन्त्रात्मक होगा। परन्तु उन भूलोंसे तो बचना ही चाहिये जो पाश्चात्य और उनके

अनुयायी प्राच्य देशोंके जीवनको दूभर किये हुए हैं। राज क्या है, राजका उद्देश्य क्या है, व्यक्तिका राजमें स्थान क्या है, उसके अधिकार क्या हैं, इन बातोंको जाननेसे ही इन भूलोंसे बचना हो सकता है। यह समस्या केवल व्यावहारिक ढङ्गसे नहीं सुलझ सकती। इसकी तहमें कई आध्यात्मिक तत्व हैं। उनके समझे बिना इस विषयकी पूरी विवेचना नहीं हो सकती। जो लोग 'दर्शन' के नामसे भागते हैं उनको भी अपनी बुद्धिपर थोड़ासा जोर देना चाहिये।

मैंने इस पुस्तकमें सभी मुख्य प्रचलित विचारोंका दिग्दर्शन कराया है और फिर यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि कौनसा सिद्धान्त समीचीन है। यह समीचीन सिद्धान्त मेरी सम्मतिमें उन दार्शनिक विचारोंपर खड़ा है, जिनको मानव समाजके सामने पहिले पहल रखनेका श्रेय भारतके ऋषिमुनियों और उनका परम्परा पर चलनेवाले तपस्वी विद्वानोंको प्राप्त है। सम्भव है कि पहिले कभी किसीने इस विषयपर उस प्रकार विचार नहीं किया जैसे मैंने किया है। स्यात् इसकी आवश्यकता न पड़ी होगी। मुझको तो अपने सामने वह सैकड़ों वर्षोंका इतिहास—वह लाखों मनुष्योंकी बाह्य और अन्तर्वेदना, स्वतन्त्रताको कुचलनेके वह प्रयत्न, स्वाधीनताके नामपर वह अपनी आहुतियाँ, जनताको सतानेके लिये धर्म्म और दर्शनका वह तोड़-मरोड़—रखना था जो प्राचीनकालके विद्वानोंके समयसे अब तक बीता है। इसलिये जो बात उन्होंने सूत्ररूपसे कह दी थी

उसकी लम्बी व्याख्या करनी पड़ती है। व्याख्या भी ऐसी होनी चाहिये जो इस समयकी परिस्थितियोंको ध्यानमें रखकर की गयी हो, अन्यथा उससे आजकलके समाजको कोई लाभ न होगा।

मैं नहीं कह सकता कि इस प्रयासमें मुझको कहाँतक सफलता मिली है। यदि मैं लोगोंका ध्यान इस आवश्यक विषयकी ओर खींच सकूँ तो भी अपनेको कृतकृत्य मानूँगा। मेरा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि वेदान्तमूलक आध्यात्मिक सिद्धान्त और समाजवादके प्रवर्तक आचार्य्योंके विचारोंके समन्वयमें ही जगत्‌का कल्याण है और यह समन्वय पूर्णतया सम्भव है। भारतने पहिले भी संस्कृतिके क्षेत्रमें गुरुपदको सुशोभित किया है। ऐसी आशा क्यों न की जाय कि वह आगे भी ऐसा करेगा?

जबतक राजव्यवस्था ठीक नहीं होती, जबतक शासक और शासित अपने-अपने धर्म्मको पहिचानकर उसका पालन नहीं करते, तबतक सच्चा सांस्कृतिक विकास नहीं हो सकता। सुचारु रूपसे परिचालित राज ही वह वातावरण प्रदान करता है, जिसमें व्यक्ति अपने बन्धनोंसे छुटकारा पाकर आत्मचिन्तन कर सकता है। इसीलिये विरक्त साधुओंको भी राजव्यवस्थाकी ओर ध्यान देना पड़ता है। सामान्य गृहस्थ तो, जिनको नागरिक रूपसे राजके सञ्चालनके भले-बुरे परिणाम भोगने हैं, इस ओर उपेक्षा नहीं ही कर सकते। आज तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि स्वाधीनताका सूर्य्य अस्त हो जायगा। कई देशोंमें

उसकी किरणें देख ही नहीं पड़तीं, दूसरोंमें भी उसका प्रकाश क्षीण पड़ता जा रहा है। ऐसे समयमें उन सब लोगोंका, जो मनुष्यको मनुष्यके रूपमें देखना चाहते हैं, यह कर्तव्य हो जाता है कि इस ओर तत्काल ध्यान दें और सभ्यता और संस्कृतिको लुप्त होनेसे बचा लें।

जालिपादेवी, काशी
२० चैत्र (सौर, १९९६

—सम्पूर्णानन्द

कृतज्ञता प्रकाश

इस पुस्तकमें मेरी लिखी 'समाजवाद' से कई अवतरण लिये गये हैं। ऐसा करनेकी अनुमति देनेके लिये मैं उसके प्रकाशक श्री काशी विद्यापीठका ऋणी हूँ।

—ग्रन्थकार

विषय-सूची

———
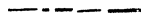
व्यक्ति और राज

विषयमुख

व्यक्ति और राजका सम्बन्ध उतना ही पुराना है जितना कि व्यक्ति और राजका अस्तित्व। सम्बन्धका स्वरूप कैसा हो इस विषयमें समय-समय पर सिद्धान्त और सम्मतिमें उलट-फेर होता रहा है। व्यवहार और उस समयके प्रचलित सिद्धान्तमें बहुधा अन्तर देखा गया है। परन्तु ऐसा कोई भी ऐतिहासिक समय नहीं मिलता जब प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी राजके अन्तर्गत न रहा हो अर्थात् किसी न किसी राजसे किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध न रहा हो। इस व्यापक कथनके कुछ अपवाद भी रहे हैं और हैं। जो लोग अपनी इच्छासे दूसरे मनुष्यों को छोड़कर जंगल पहाड़में तपश्चर्या या किसी अन्य उद्देश्यसे चले जाते हैं उनको उस राजसे सम्बद्ध गिनना, जिसकी भौगो-

लिक सीमाके भीतर उनका निवासस्थान है, निरर्थक है। परन्तु हम ऐसे लोगोंको असाधारण मानते हैं, इनकी संख्या कभी भी अधिक नहीं हुई। सामान्यत: तो जो मनुष्य किसी विवशताके कारण दूसरे मनुष्योंसे अलग पड़ जाता है वह फिर समाजका अङ्ग बनना चाहता है, जबतक उसकी यह इच्छा पूरी नहीं होती तबतक व्याकुल रहता है। वह जानता है कि वह जिस समाजमें जा मिलेगा वह किसी न किसी राजका अवयव होगा, अत: अप्रत्यक्षरूपसे वह किसी न किसी राजका 'नागरिक', किसी न किसी राजसे सम्बद्ध व्यक्ति, बनना चाहता है। जो पागल है, जिसका मस्तिष्क काम नहीं करता, या जिसकी बुद्धि अभी उद्बुद्ध नहीं हुई, उसको छोड़कर सभी, यहाँतक कि चोर और खूनी भी, अपनेको किसी राजसे बँधा पाते हैं और इस बाँधनेवाली डोरको काटनेका प्रयत्न नहीं करते पाये जाते। जो लोग कानून तोड़कर जेलोंमें बन्द होते हैं। वह कुछ बन्धनोंको भले ही नापसन्द करते हों, किसी तात्कालिक आवेशमें आकर कोई उद्दण्डता कर बैठे हों, पर वह भी यह नहीं चाहते कि जिन स्वत्वोंको वह अपना समझते हैं उनका अपहरण हो। वह क्या चाहते हैं इसको ठीक-ठीक न कह सकते हों पर उनकी भी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि वह सुधरे हुए राजके अंग हो कर रह सकें। अत: जो लोग देखनेमें अपवाद जान पड़ते हैं वह भी वस्तुत: इस व्यापक नियमके बाहर नहीं हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छासे राजसे सम्बद्ध है। यह बात बर्बर और

सभ्य, सभी प्रकारके मनुष्योंमें पायी जाती है।

जो नियम इतना व्यापक है उसका कोई न कोई व्यापक आधार भी होगा, जिसकी जड़ मनुष्यकी प्रकृति और उसके जीवनकी आवश्यक परिस्थितियोंमें होगी मनुष्यके सम्बन्धमें ऐसा कहा जाता है कि वह एकाकी रह नहीं सकता। इसका अर्थ यह है कि एकाकी रहनेसे मनुष्यका जीवन अपूर्ण रहता उसकी बुद्धिका, उसकी छिपी मानस शक्तियोंका, विकास अकेलेमें नहीं हो सकता। राग, द्वेष, दया, ईर्ष्या, स्पर्धा, क्रोध, त्याग, ममता, अपना, पराया, यह सब भाव एकान्तमें उदय नहीं हो सकते और इनके उदय हुए बिना चरित्र खिलता नहीं। भावोंके संघर्षसे ही मनुष्य उन्नति करता है। जहाँ कई मनुष्य होंगे वहीं समाज होगा और जहाँ समाज होगा वहीं नियंत्रण होगा। नियंत्रण ही राजका मूल है। जो विपथगामी होगा, अर्थात् जो समाजमें प्रचलित दस्तूरोंके विरुद्ध आचरण करेगा या करना चाहेगा, उसको दण्ड देना होगा, रोकना होगा। दो झगड़नेवालोंमें कभी-कभी निर्णय भी करना होगा। यदि सब लोग पूर्णतया मनमाने रहने लगें तो मात्स्यन्यायसे समाज नष्ट हो जाय और सबकी उन्नति, जो साथ रह कर ही हो सकती है, बन्द हो जाय। इसी प्रकार कभी-कभी दो समाजों, मनुष्योंकी दो टुकड़ियोंमें, मछली मारनेकी जगह, गाय, भेड़, बकरी चराने की जगह, उर्वरा भूमि इत्यादिके लिये विवाद हो सकता है। यह विवाद या तो बात-चीतसे तय होगा या लड़कर। दोनों

अवस्थाओंमें संघटनकी, किसी न किसी प्रकारकी राजसत्ताकी आवश्यकता होगी। तात्पर्य यह है कि राजकी सत्ताके बिना मनुष्य अपूर्ण और अविकसित रहता और अपनी रक्षामें असमर्थ होता। इसका परिणाम यह होता कि या तो मनुष्य जाति नष्ट हो जाती या मनुष्य मनुष्य न बन पाता और शेर-भालूकी भाँति जंगली पशुमात्र रह जाता। राज और व्यक्तिके सम्बन्धकी तहमें यही बात है। इस प्रवृत्तिका यह परिणाम होगा कि जहां कहीं मनुष्य होंगे, चाहे बहुतसे मनुष्य एक नये टापू पर छोड़ दिये जायं, वहाँ राज भी होगा।

आरम्भमें राजका जो रूप होगा उसे 'पुलिसराज' कह सकते हैं। न केवल जंगली देशोंमें वरन् सभ्य देशोंमें भी बहुत दिनोंतक राजका न्यूनाधिक यही स्वरूप था। शासनपद्धतियाँ विभिन्न प्रकारकी थीं, पर राजका जो धर्म था, वह जो कर्तव्य-पालन करता था, वह वही था जो संक्षेपमें पुलिसका काम है। लोगोंको आपसमें लड़ पड़नेसे रोकना, यदि लड़ ही पड़ें तो छुड़ा देना, जो समाजके प्रचलित दस्तूरोंको तोड़नेका विचार रखता हो उसे रोकना, जो न रोका जा सके उसे पकड़कर दण्ड देना ताकि वह भी सँभल जाय और ऐसा काम न कर सके और दूसरे भी डरकर रुक जायँ। यह राजका मुख्य काम था। एक और काम था। यदि कुछ लोग लड़ना न चाहें और उनमें किसी बातपर विवाद हो जाय तो पक्षपात किये बिना उनका झगड़ा चुका देना। यह तो भीतरकी

बात हुई। अपनी सीमाके बाहर भी राजका काम पुलिसका ही था। उसे इसलिये सतर्क रहना पड़ता था कि कोई दूसरा राज आक्रमण न कर दे। राजकी सारी शक्ति इन्हीं कामोंमें लगती थी। वह जो कुछ करता था वह घूम फिरकर इन्हीं उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये होता था। उसके गुण-दोष इन्हीं उद्देश्योंके कारण उत्पन्न होते थे। उसकी सफलता असफलताकी नाप इन उद्देश्योंकी पूर्तिसे ही होती थी। ऐसी अवस्थामें व्यक्तिकी परिस्थिति भी सीधी थी। राज उसके लिये थोड़ा काम करता था और उससे थोड़ा काम लेता था। एक संकुचित क्षेत्रके बाहर राज उससे न तो यह पूछता था कि तुम क्या करते हो, न उसके काममें साधक या बाधक बननेका प्रयत्न करता था। दोनों ओरसे एक सीधा समझौता-सा था। इस दशामें अपना कर्तव्य और अधिकार समझना सुगम था।

पर अब वह अवस्था नहीं रही। आज राजके कार्य्यक्षेत्रका विस्तार बहुत बढ़ गया है। राज अपने पुराने कर्तव्योंको भूला नहीं है। आज भी वह लड़ाई दंगेको रोकता है, कानून तोड़ने वालोंको सजा देता है, लोगोंके दीवानी फौजदारी झगड़ोंको निपटाता है। इतना ही नहीं, उसका न्यायविभाग स्वयं उसके विरुद्ध निर्णय देता है। राज मुद्दई ही नहीं, मुदाइलैह भी बनाया जाता है। न्यायालयोंको किसी किसी अवस्थामें यह भी निर्णय करनेका अवसर मिलता है कि जिस कानूनके अनुसार मुक़द्दमा चल रहा है उसे बनानेका राजको अधिकार था भी या नहीं।

आजसे सौ वर्ष पहिले यह बात प्रायः असम्भव थी। उस समय यदि राजपर कोई रोक थी तो वह धर्म्मशास्त्र की। कानूनके वैध अवैध या यों कहिये कि उचित अनुचित होनेकी अन्तिम कसौटी ईश्वर प्रेरित आम्नाय ही—चाहे सम्प्रदाय विशेषमें उसका कुछ भी नाम हो—हो सकता था। पर केवल न्यायके सम्बन्धमें राजके कार्य्यक्षेत्रका विस्तार नहीं बढ़ा है। आज शिक्षापर भी राजका न्यूनाधिक नियंत्रण है, राज रुपया देता है, राज ही निश्चय करता है कि भावी नागरिकको किस ढंगकी शिक्षा दी जाय, शिक्षकोंकी नियुक्तिकी भी देखरेख राज करता है। राज अस्पताल बनवाता है; सड़क बनवाता है, तार, डाक, रेल, बेतारका प्रबंध करता है; राज औद्योगिक शिक्षा दिलवाता है, उद्योग और व्यवसायके लिये साधन प्रस्तुत करता है, कच्चे माल और बाजारोंकी खोजमें विदेशोंपर कब्जा करता है, दूसरे देशोंसे लड़ाइयाँ मोल लेता है, स्वयं व्यवसाय करता है; थिएटर, सिनेमा, रेडियो सार्वजनिक उद्यान आदिके द्वारा मनोरंजनकी सामग्री इकट्टी करता है; मालिक और नौकर, जमीनदार और किसान, पूंजीपति और मजदूरके बीचमें पंच बनता है; वस्तुओंकी दर और मकानके कियायेको तय करता है; पूजा-पाठ तकमें पूरी स्वच्छन्दता नहीं रहने देता। यदि देखा जाय तो आज जीवनका ऐसा स्यात् ही कोई अंश होगा जिसपर राजका कुछ न कुछ दखल न हो।

परन्तु आजका व्यक्ति भी पहिले जैसा सीधा सादा व्यक्ति

नहीं है। यह ठीक है कि वह अब भी उन्हीं मानस विकारोंसे, उन्हीं राग द्वेष, मत्सर, काम, क्रोध, लोभ आदि मनोभावोंसे प्रेरित होता है जो उसके पूर्वजोंके प्रेरक थे। पर अब जीवन उतना सरल नहीं रह गया। वह अब भी अपने पड़ोसियों और विदेशियोंके आक्रमणोंसे बचना चाहता है, उसे अब भी अपने बालबच्चे प्यारे हैं, पर आज उसके गलेमें कई प्रकारकी डोरें बँध गयी हैं। वह सम्भवतः हिन्दू, मुस्लिम, इसाई आदि किसी सम्प्रदायका अङ्ग है। वह या तो मजदूर है या किसी मिलका मालिक या मनेजर या किसी बंक या अन्य प्रकारकी कम्पनीका संचालक; वह या तो किसान है या जमीनदार; वह किसी दफ्तरमें नौकर है या अध्यापक है। उसकी यह विभिन्न हैसियतमें एक दूसरेसे टकराती हैं। हिन्दू होनेके नाते उसे अन्य मतावलम्बियोंकी अपेक्षा हिन्दू मात्रको अपना भाई समझना चाहिये पर जमीनदार होनेसे वह अपने हिन्दू किसानोंके हितोंका विरोधी है। व्यापार व्यवसायके क्षेत्रमें वह विदेशियोंसे लड़ता है पर विद्या या कलाके क्षेत्रमें उनके सहयोगका इच्छुक रहता है। जहाँ हैसियतों और उनसे उत्पन्न परिस्थितियोंका ऐसा संघर्ष हो वहाँ अपने कर्तव्यको निश्चित करना बड़ा कठिन होता है। राज व्यक्तिके जीवनको अनेक अवसरोंपर अनेक रूपोंमें, ऐसे रूपोंमें जो कभी-कभी एक दूसरेके विरोधी प्रतीत होते हैं, प्रभावित करता है। और व्यक्तिके अपने जीवनमें पदे-पदे राजका मुँह ताकना पड़ता

है और उसके रुख़के अनुसार आचरण करना पड़ता।

ऐसी अवस्थामें राज और व्यक्ति सम्बन्धके क्या आधार हों इसका निश्चय करना थोड़ा कठिन हो जाता है परन्तु इसकी आवश्यकता कम नहीं होती। इस विषयपर विद्वानोंने बहुत विचार किया है और अनेक सिद्धान्त हैं। जिस समाजमें जो सिद्धान्त मान्य होगा उसमें उसीके अनुसार शासनपद्धति और दूसरी सामाजिक संस्थाएँ होंगी।

ऊपर मैंने बराबर 'राज' शब्दका प्रयोग किया है। उसका अर्थ भी समझ लेना चाहिये। जहाँ मनुष्योंके अनेक प्रकारके संघटन होते हैं, वहाँ राज भी उनमेंसे एक है। प्रत्येक संघटन किसी न किसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये होता है। शिक्षणके लिये जो संघटन होता है उसका नाम शिक्षालय, विद्यालय या स्कूल है। उसमें कुछ लोग शिक्षक, शेष छात्र होते हैं। इसी प्रकार शासनके लिये जो संघटन होता है उसका नाम राज है। उसमें कुछ लोग शासक, शेष शासित होते हैं। राजके लिये कोई नियमित क्षेत्रफल निर्धारित नहीं है। वह देशमात्रमें सीमित हो सकता है, कभी-कभी एक देशके टुकड़े तक ही परिमित रह सकता है और देशोंपर भी फैला हो सकता है। उसके रूपों अर्थात् शासन-पद्धतियोंमें भेद होता है। फ्रांसमें प्रजातंत्र है, ब्रिटेनमें नियमित राजतन्त्र है, सऊदी अरबमें अनियन्त्रित राजतन्त्र है, पर यह सभी राज हैं। हैदराबाद, काश्मीर, ग्वालियर आदि भी राज हैं। इन सबके निश्चित क्षेत्र हैं, सबका मुख्य

उद्देश्य शासन है, सबमें सरकार—चाहे वह एक व्यक्ति हो चाहे कुछ व्यक्तियोंका समूह—है, सबमें प्रजा है। प्रजाकी संख्या अधिक है, सर्कारकी थोड़ी। राज अनेक प्रकारके काम देशके भीतर और बाहर करता रहता है। इसके लिये उसके जो अधिकार होते हैं उन सबकी समष्टिका नाम 'प्रभुत्व' है। जिस राजकी शक्ति पूर्णतया अकुण्ठित है, वह पूर्ण-प्रभु अथवा स्वतन्त्र, स्वाधीन, राज है। जिसकी शक्ति विदेशी-दबाव या किसी अन्य-कारणसे संकुचित है वह अल्प-प्रभु, पराधीन राज है।

यह तो स्पष्ट ही है कि सरकारके बिना प्रजा और प्रजाके बिना सरकार नहीं रह सकती। इन दोनोंमें अन्योन्याश्रय है और दोनोंकी समष्टि राज है अतः नियमतः राजका किया हुआ प्रत्येक काम सर्कार और प्रजा दोनोंका किया हुआ है, उसके लिये दोनोंका दायित्व है। परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि राजके नामपर जो काम होता है उसे सरकार ही करती है। वह राज्य, अर्थात् अपने अधिकार-क्षेत्रके, भीतर राजके नामपर प्रजाको विधि-निषेधात्मक आज्ञाएँ देती है और राज्यके बाहर राजकी प्रतिनिधिके रूपमें दूसरे राजोंसे यथाभिमत व्यवहार करती है। इसलिये व्यवहारमें सर्कार शब्द एक प्रकारसे राजका पर्य्याय-वाची हो जाता है। वस्तुतः दोनों एक ही पदार्थ नहीं हैं। अनेक प्रकारके उथल-पथल होते रहते हैं फिर भी राजकी सत्ता बनी रहती है पर सर्कार तो आये दिन बदला करती है। आज जहां नरेशका सिक्का चलता है कल वहाँ लोकतन्त्र स्थापित हो सकता

है पर इससे राजके अस्तित्वमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह भेद ध्यानमें रखना चाहिये फिर भी यह सच है कि साधारणतः व्यवहारमें राजका अर्थ सर्कार ही होता है।

जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है सर्कार राजका एक अंग है फिर भी उसके कामोंका दायित्व पूरे अङ्गी अर्थात् सारे राज पर आता है। दूसरे शब्दोंमें सर्कारके किये कामोंकी जवाबदेही प्रजापर भी आती है। इसलिये यह भी आवश्यक हो जाता है कि यह बात निश्चित हो जाय कि प्रजावर्ग, दूसरे शब्दोंमें जनता या नागरिक समुदाय, शासितोंकी समष्टि-का कोई अवयव अर्थात् कोई व्यक्ति कहाँ तक और किस अवस्थामें राज अर्थात् सर्कारके कामोंका उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले। यह बात तय होनी चाहिये कि वह कब और किस प्रकार ऐसे दायित्वको ओढ़ना अस्वीकार कर सकता है। इसी बातको दूसरे शब्दोंमें यों कहेंगे कि उसके और राजके बीचमें जो सम्बन्ध है उसका स्वरूप निश्चित हो जाना चाहिये।

यह समस्या केवल व्यावहारिक उपदेयताके आधारपर नहीं सुलझ सकती। व्यवहारकी बात तो यह है कि सर्कारकी सदैव यह इच्छा रहेगी कि प्रजा बिना कान-पूँछ हिलाये उसकी बातें मानती जाय और उसके किये हुए सभी कामोंका भार अपने ऊपर लादती जाय। व्यवहारमें प्रजा प्रायः ऐसा ही करती भी है पर कभी कभी सर्कारकी कोई बात थोड़े या बहुत

व्यक्तियोंको नहीं भाती और यदि वह बलशाली हुए तो उनकी इच्छा पूरी होकर रहती है। पर इससे केवल एक विशेष बला टल जाती है, मेघ घिरे ही रहते हैं। यदि प्रश्नको सुलझाना है तो उसपर सैद्धान्तिक रूपसे विचार करना होगा। किसी एक राजके किसी एक व्यक्तिका प्रश्न नहीं है, न किसी अवसर विशेषके कर्तव्या-कर्तव्यका निर्णय करना है। यथासम्भव देश-कालसे ऊपर उठकर यह देखना है कि राज और व्यक्तिमें कैसा सम्बन्ध होना चाहिये जो उभयके लिये श्रेयस्कर हो।

मैं पहिले भी कह चुका हूँ कि आज इस प्रश्नकी ओर ध्यान देना पहिलेकी अपेक्षा अधिक आवश्यक हो गया है क्योंकि समस्या पहिलेसे जटिल हो गयी है। आजसे दो सौ वर्ष पहिले, भारतके देशी रजवाड़ों तकमें भी, बात बहुत सीधी थी। प्राचीन-कालके विद्वानोंने राजके सम्बन्धमें जो कुछ छानबीनकी थी वह विस्मृत हो गयी थी। राजका किसीको खयाल भी नहीं था। जो कुछ था वह राजा था। फ्रांसके बादशाह चौदहवें लुईने जिस बातको स्पष्ट शब्दोंमें कहा था (ल एता: से म्वा—राज: मैं राज हूँ) उसे सब ही मानते थे। राजकी बात भली लगे या बुरी पर उसके हाथमें शक्ति थी अत: उसकी आज्ञा मान्य थी। यदि उससे कुढ़कर बलवा हुआ और दूसरा राजा या राजवंश बैठाया गया तो वह भी उतना ही मान्य हो गया। देश और विदेशमें सारी जिम्मेदारी राजाकी थी। प्रजा यश अपयशकी भागी नहीं थी, उसका कोई दायित्व नहीं था।

आज अवस्था दूसरी हो गयी है। जो कुछ कहा या किया जाता है वह राजके नामपर और राजका मुख्य अङ्ग प्रजा है, अतः प्रत्येक कामके लिये देशमें और विदेशमें उसकी भी जिम्मेदारी हो जाती है। शासकोंके सिरपर दोष मढ़नेसे छुटकारा नहीं हो सकता। फिनलैण्डमें कुल पैंतीस लाख प्राणी बसते हैं। शासन जिन लोगोंके हाथमें है वह वहाँकी बहुमूल्य खानों और जंगलोंके स्वामी हैं। पर जब छोटासा फिनलैण्ड दस करोड़ जनसंख्या वाले रूससे लड़ाया गया तो इन शासकोंके निजी क्षति-लाभका नाम नहीं लिया गया। जनताकी स्वाधीनता और राजके हितकी ही दुहाई दी गयी। अमेरिकाके संयुक्त राजमें समाजवादियों, विशेषतः समष्टिवादियों, को पीट देना, न्यायालयोंमें उनको सफाईका ठीक-ठीक अवसर न देना, देशसे निकाल देना, फांसीपर लटका देना—यह सब राजके हितके लिये किया जाता है। प्रशान्त महासागरके दूसरे किनारेपर रूसमें पूँजीवालोंके साथ ठीक ऐसा ही बर्ताव करनेसे राजका हित होता है। भारतमें राजका हित आज इस बातमें माना जा रहा है कि बहुतसे नवयुवक शिक्षित भारतवासी जेलोंमें डाल दिये जायँ, नजरबन्द कर दिये जायँ, देश छोड़कर चले जायँ। न ब्रिटेनकी प्रजा अपने राजा या मन्त्रियोंके लिये लड़ती है, न जर्मनीकी प्रजा हिटलरके लिये, न परतन्त्र भारतकी प्रजा अपनी विदेशी सर्कारके लिये। कहा जाता है कि यह सब राजके हितके लिये लड़ रहे हैं। इस चक्करमें

डालनेवाली परिस्थितिमें यह समझ लेना अनिवार्य्यतया आवश्यक हो जाता है कि राज और व्यक्तिमें वस्तुतः क्या सम्बन्ध है।

इस अध्यायके आरम्भमें मैंने लिखा है कि ऐतिहासिक कालमें मनुष्य राज्योंमें संघटित पाये जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अति प्राचीन कालमें सम्भवतः राज भी न रहे होंगे। किसी न किसी प्रकारका सामाजिक संघटन और नियन्त्रण तो रहा होगा पर उसका विकास राजमें न हुआ होगा। 'समाजवाद' में मैंने इस विषयपर संक्षेपमें यों लिखा है:—

"यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि राज पृथ्वीके आदिकालसे या यों कहिये कि पृथ्वीपर मनुष्यके आनेके समयसे चला आता है। इसका कोई प्रमाण नहीं है। यह तो ठीक ही है कि आरम्भकालसे ही मनुष्य छोटी बड़ी टुकड़ियोंमें रहते होंगे। मनुष्य जैसा प्राणी, जिसको न दाँतका अवलम्ब है न पञ्जेका, किसी अन्य उपायसे बनैले पशुओंसे अपनी रक्षा कर नहीं सकता था। यह भी निर्विवाद है कि जहाँ दो व्यक्ति एक साथ रहते हैं वहाँ भी आपसमें बरतनेके लिए कुछ नियम बन जाते हैं। अतः प्राचीन कालके मानव समुदायोंमें भी आपसके व्यवहारके लिए कुछ न कुछ नियम अवश्य रहे होंगे। पर न तो ऐसे समुदायोंको राज कह सकते हैं, न उन नियमोंको कानूनका नाम दिया जा सकता है। पशु-पक्षियोंके भी समुदाय होते हैं पर उनको कोई राज नहीं कहता। आत्मरक्षाकी सहज

प्रवृत्ति समुदायके राजनीतिक जीवनकी रक्षा करती है। भैंसों और गायोंके झुण्डपर जब किसी बनैले हिंस्र पशुके आक्रमणकी आशङ्का होती है तो बछड़ों और गायोंको बीचमें करके सब नर घेरा बाँधकर खड़े हो जाते हैं ताकि शत्रु जिधरसे आये उसे सींगोंका सामना करना पड़े। घोड़े और गधे पिछली टाँगोंको बाहर करके खड़े होते हैं ताकि शत्रुको लात मार सकें। आरम्भमें मनुष्यके जीवनमें इससे अधिक राजनीतिका समावेश नहीं था। सार्वजनिक शत्रुओंका सामना करनेके लिए सहज प्रवृत्ति सबको खड़ा कर देती थी। कोई न कोई नेता भी रहता होगा। भेड़ियोंके गोलमें भी जो भेड़िया अधिक बलवान् और चतुर होता है वह स्वतः नेता बन जाता है और दूसरे उसके पीछे पीछे चलते हैं। पर इसमें न कोई सघटन है न नेताके दैवी आधिपत्य माननेकी बात है, न उसकी आज्ञाको अनिवार्यतया मानना है। प्राचीन मनुष्य समाजमें भी ऐसा ही रहा होगा। पशु-पक्षियोंमें भी आपसमें बरतनेके नियम होते हैं और जो उन नियमोंको तोड़ता है उसे सब मिलकर दण्ड देते हैं। यों कह सकते हैं कि उस पशु या पक्षिसमुदायका लोकमत नियमके उल्लंघन करनेवालेको दण्ड देता है। यह नियम समुदायके अनुभवके आधारपर आप ही बन गये हैं अर्थात् इनके पालनसे समुदाय सुव्यवस्थित और चिरंजीवी रह सकता है अतः यह समुदायके प्रायः प्रत्येक प्राणीकी मनःप्रवृत्तिके अविच्छेद्य अंग हैं। परन्तु कानूनमें यह बात नहीं होती। कानूनकी परिभाषा

यह है कि वह ऐसी आज्ञा होती है जिसके साथ दण्ड लगा होता है। 'चोरी मत करो, अन्यथा अमुक अमुक दण्ड पाओगे' यह कानूनका रूप है। पशु-समाजमें ऐसे कानून नहीं होते, प्राचीन मनुष्य-समाजमें भी न होंगे, क्योंकि कानूनके लिए कोई बनानेवाला, नियामक, आज्ञा देनेवाला चाहिये। ऐसा नियामक न पशु-समाजमें है, न पुराने मनुष्य समाजमें था। यह नहीं कह सकते कि कानून उन प्राकृतिक नियमोंके समान हैं जिनसे समुदायकी रक्षा होती है, इसलिए वह सबके हृदयमें आप ही उत्पन्न हो जाते हैं। 'चोरी न करो' तो स्यात् ऐसा नियम माना जाता पर 'सड़कपर अपने बायें हाथ चलो' मनुष्य-समुदायके लिये प्राकृतिक नियम नहीं है। यह तो किसी नियामकका ही बनाया हुआ है।

यह अवस्था कबतक चली गयी यह नहीं कहा जा सकता पर बुद्धिप्रधान मनुष्य पशुपक्षियोंकी भांति सदा एक ही अवस्थामें तो रह नहीं सकता था। उसने कच्चे मांसकी जगह पका भोजन खाना सीखा, खेती करना सीखा, पशु पाले, मकान बनाये, पृथ्वीके गर्भ से खनिजोंको निकालना और उनका गलाना तथा ढालना सीखा। मनुष्य-समुदायका स्वरूप जटिल और जटिलतर होता गया। श्रमविभाग हुआ। कुछ लोग एक काम, कुछ दूसरे काममें लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ पहिले सब बराबर थे, वहाँ अब सम्पत्ति-वैषम्य हो गया। किसीके पास अधिक सम्पत्ति थी, किसीके पास कम। स्वभा-

वत: वह लोग अधिक सम्पन्न थे जिनके पास भूमि थी। उनकी बराबरी यदि कर सकते थे तो वही लोग कर सकते थे जो भूलोकका स्वर्लोकसे संबंध जोड़ सकते थे। यह पुरोहित सर्व-श्रेष्ठ थे। कहनेका तात्पर्य यह है कि समुदायमें आर्थिक वैषम्य उत्पन्न हुआ। इसके साथ हैसियत; दर्जेमें भी वैषम्य हुआ। यह ऊँचा है, यह नीचा है ऐसा भाव दृढ़ होने लगा। जहाँ पहिले कोई बलवान व्यक्ति कभी कभी अपनेसे दुर्बलोंको कुछ तंग कर लेता होगा वहाँ अब बलवानोंका वर्ग बन गया और इस वर्गने दूसरोंको उत्पीड़ित करना आरम्भ किया। अब नेतृत्व भेड़ियों या प्राचीन मनुष्योंकी भाँति अपनी चतुरता या अपने बाहुबलके आधारपर नहीं मिलता था वरन् अपने वर्गके आधारपर। यही संस्कृत ग्रन्थोंमें प्रशस्त 'अभिजन बल' है। इधर उत्पीड़कोंसे अपनी रक्षा करनेके लिए दूसरोंको भी फिक्र हुई। यदि यह वर्गयुद्ध यों ही अव्यवस्थित रूपसे चला जाता तो उत्पीड़ितोंका तो संहार हो ही जाता, इसके बाद उत्पीड़क भी खत्म हो जाते और समुदाय ही न रह जाता। ऐसी परिस्थितिमें राजका जन्म हुआ है।

पुराणोंमें राजकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जो कथा दी है वह भी इसी बातका समर्थन करती है। ऐसा लिखा है कि पहिले कोई राजा न था। लोग आपसमें मिलकर रहते थे। परन्तु कुछ दिनोंके बाद यह अवस्था बदली। बलवान् लोग दुर्बलोंको 'मात्स्यान्यायेन' खाने लगे अर्थात् उसी प्रकार खाने लगे जिस

प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा जाती हैं। यह रूपक ध्यान देने योग्य है। शोषक और शोषितमें यही मात्स्य-न्याय बरता जाता है। युक्तप्रान्तके कई बड़े ज़मींदार कृषकोंको अपना 'आहार' कहते सुने गये हैं। अस्तु, इस परिस्थितिसे त्रस्त होकर सबने मनुसे प्रार्थना की कि आप हमारे राजा बनिये। इस प्रकार प्रथम राजकी सृष्टि हुई।

२

अध्यात्मवाद

इस विषयमें जितने सिद्धान्त प्रचलित हैं उनमें सबसे पहिला स्थान अध्यात्मवादका है। इसका कारण यह नहीं है कि यह सबसे पुराना है वरन् यह कि इसके संवर्द्धन और प्रचारमें बड़े-बड़े विद्वानोंने भाग लिया है और किसी न किसी रूपमें इसका दूसरे वादोंपर भी प्रभाव पड़ा है। अधिकांश सर्कारोंको भी यह अभिमत है। अब वह काल तो है नहीं जब, स्मृतिके शब्दोंमें, सर्कारें अपने लिये 'नाविष्णुः पृथिवीपतिः' (प्रत्येक राजा—सर्कार—विष्णुका स्वरूप है) जैसे किसी वाक्यको पेश कर सकें। हमको ईश्वरसे अधिकार मिला है, हमसे केवल वही जवाब तलब कर सकता है, ऐसा कहनेसे आजकल काम नहीं चलता। इसलिये किसी दूसरे शास्त्रीय आश्रयकी आवश्यकता पड़ती है। आश्रय भी ऐसा चाहिये जो किसी सम्प्रदाय विशेषका अङ्ग न हो, जिसको आस्तिकनास्तिक सभी स्वीकार कर सकें, जिससे सर्कारी स्वच्छन्दताको सहारा मिल जाय, परन्तु साथ ही उसपर पर्दा भी पड़ सके, जो उसकी क्रूरताको मधुरतामें परिणत कर सके, कमसे कम विरूपको सुन्दर बनाकर दिखला सके। यह स्मरण रखना चाहिये कि जिन लोगोंने इसको

वर्त्तमान रूप दिया है वह राजपुरुष या सर्कारी अहलकार न थे। उनका राजकी निरंकुशताके समर्थनमें कोई अपना स्वार्थ न था। वह तो दार्शनिक विद्वान थे। हाँ, यह ठीक है कि उनपर, विशेषतः इस मतके प्रवर्तक हेगेलपर, तत्कालीन परिस्थितियोंका प्रभाव पड़ा था। हेगेल जर्मन थे। उन्होंने नैपोलियनके समयके दुखी, दुर्बल, छिन्नभिन्न और आभ्यन्तर कलहसे जर्जर जर्मनीको देखा। वह चाहते थे कि वह पुनः उन्नत, बलवान और प्रजाहित-साधनमें समर्थ हो। इस भावनाका उनकी विचारधारा पर निःसन्देह प्रभाव पड़ा। अपने विचारोंके निष्कर्ष स्वरूप उन्होंने जो सिद्धान्त स्थिर किया वह जर्मनीके तत्कालीन शासकोंको भी अभिप्रेत था। उन्होंने उसको अपनी राजनीतिका आधार बनाया। यह अध्यात्मवादके जन्मकी कथा है। पर वह जर्मनीके संकुचित घेरेमें देरतक न रहा। थोड़े ही दिनोंमें उसने भौगोलिक सीमाओंका उल्लंघन कर दिया और सार्वभौम बन गया।

चाणक्यकी भाँति हेगेल मुख्यतः राजशास्त्री न थे। उनका राज-विषयक सिद्धान्त एक गौण वस्तु था। उनकी प्रधानकृति तो उनका दार्शनिक या आध्यात्मिक आदर्शवाद, संक्षेपतः अध्यात्मवाद था। यह इस पुस्तकका प्रत्यक्ष विषय नहीं है, फिर भी इसका संक्षेपतः उल्लेख करना लाभप्रद होगा।

हेगेलने अपने पारिभाषिक शब्द यूनानके तर्कशास्त्रसे लिये

हैं। उनका कहना है कि जगत्का विकास एक विशेष प्रणालीके अनुसार हुआ है जिसको द्वन्द्ववाद कहते हैं। इस प्रणालीको किसी पुरुष विशेष, किसी ईश्वर ने अपने सकल्पसे नहीं स्थिर किया, प्रत्युत यह जगत्का, जगत्के उपादान कारणका, उस पदार्थका जिससे जगत्का विकास हुआ है, धर्म्म है, स्वभाव है जो अन्यथा हो ही नहीं सकता। इस प्रणालीका परिवर्तित होना वैसा ही असम्भव है जैसे अग्निसे दाहकताधर्मका पृथक् होना। किसी वस्तु-विशेषको किसी क्षण-विशेषमें लीजिये। उस समय उसकी जो अवस्था होगी वह हेगेलकी परिभाषामें 'वाद' कहलायेगी। दूसरे ही क्षणमें, या यों कहिये कि आपके निरीक्षणके क्षणमें ही, वाद अपनेसे विपरीत अवस्थाको अभिव्यक्त करता है। इस विपरीत अवस्थाको 'प्रतिवाद' कहते हैं। तीसरे क्षणमें वाद और प्रतिवादके संयोगसे एक नयी अवस्था उत्पन्न होती है जिसे 'युक्तवाद' कहते हैं। अब यह युक्तवाद स्वयं उस वस्तु का नया स्वरूप अर्थात् नया वाद हो गया। यह अपना प्रतिवाद और आदवाले क्षणमें नया युक्तवाद उत्पन्न करेगा। यों ही विकास होता है। प्रत्येक अवस्थाके भीतर पहिलेकी सब अवस्थाएँ निहित हैं क्योंकि वह अवस्था पहिलेके सभी वादों, पहिलेकी सभी अवस्थाओंकी सन्तति है; प्रत्येक अवस्थाके गर्भमें आनेवाली सभी अवस्थाएँ हैं क्योंकि वर्तमान अवस्था ही वाद प्रतिवादादि क्रमसे भविष्यत् अवस्थाओंमें परिणत होनेवाली है।

इस सिद्धान्तका द्वन्द्ववाद नाम सार्थक है क्योंकि इसमें जो बात प्रतिपादित की गयी है वह यह है कि यह विश्व द्वन्द्वात्मक है। जो कुछ भी है वह अपने साथ ही अपने विपरीतको लिये फिरता है। विपरीतके अस्तित्वके बिना वस्तुकी प्रतीति हमको हो ही नहीं सकती। स्थूल रूपसे यह ऐसा ही कहना है कि रात के अस्तित्वसे ही हमको दिनकी अनुभूति होती है, जीवनका भान साथ लगी हुई मृत्यु कराती है। पर यह बहुत ही स्थूल ढंग हुआ। हेगेल जो कहते हैं उसको समझनेके लिये और सूक्ष्म विचार करना चाहिये। साधारणतः जब हम किसी वस्तु की किसी अवस्थाको देखते हैं तो उसकी उलटी अवस्था हमारे सामने नहीं होती। परन्तु हेगेलका कहना है कि वह उस समय भी रहती है। प्रतिवादके बिना वादकी अनुभूति वैसी ही असम्भव होगी जैसे पटके बिना चित्रकी। यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि यह द्वन्द्वात्मक विकास केवल स्फुट वस्तुओंमें नहीं होता। सारा जगत् इसी नियमके भीतर चलता है। यह भी स्मरण रखना होगा कि इसका क्षेत्र केवल भौतिक जगत् नहीं है। मानस-जगत्–हमारे विचारों, भावों और सङ्कल्पोंका जगत्—भी इसी डोरमें बँधा है।

हेगेल आत्मवादी थे। उनका मत है कि जगत्का मूल-तत्व अहम (मैं)—शुद्ध प्रत्यगात्मसत्ता—है। वह एक है अनेक नहीं परन्तु उसकी अनुभूति (के साथ-साथ ही उसके विपरीत अनहम् (न मैं) की अनुभूति) होती है। अनहम्

अहम्से भिन्न पदार्थ नहीं है, पर बिना उसकी प्रतीतिके अहम्‌की प्रतीति नहीं हो सकती। 'मैं' के अनुभवके साथ-साथ यह भी अनुभव रहता है कि ऐसा भी कुछ है जो 'मैं' नहीं है, जो मेरे मैं से भिन्न है। मैं के अनुभवका अर्थ है इस 'न मैं' से 'मैं' की पृथक्ताका अनुभव। बस इन्हीं दोनों मैं और न—मैं से इस विशाल जगत्‌की उत्पत्ति हुई है।

पाश्चात्य जगत्‌के लिये यह सिद्धान्त क्रान्तिकारी था, परन्तु भारतमें इसका प्रतिपादन बहुत पहिले हो चुका था। हाँ, यहाँ इसे द्वन्द्ववाद जैसा कोई नाम नहीं दिया गया। अद्वैत वेदान्त और सांख्यने इसी प्रणालीका अनुसरण किया है। शाङ्कर वेदांत के अनुसार केवल एक पदार्थका अस्तित्व है। वह सत् पदार्थ ब्रह्म है। तत्वमसि आदि महावाक्योंके द्वारा यह बतलाया गया है कि वह हमारे अहम्से अभिन्न है। यह पदार्थ एक है, अद्वय है, अखण्ड है, एकरस है। पर इसके साथ ही इससे सर्वथा अभिन्न परन्तु स्वरूपमें विपरीत असत् मायाकी प्रतीति होती है। यदि ब्रह्म वाद है तो माया प्रतिवाद है। इन दोनोंका युक्तवाद ईश्वर है। ईश्वर भी वाद होता है। उसका प्रतिवाद आद्या, चिच्छक्ति होती है। इन दोनोंका युक्तवाद प्रत्यगात्मा, पुरुष, जीवात्मा है। माया असत् है, इसीलिये वेदान्ती मायाकी सन्तति, इस जगत्‌को मिथ्या बतलाता है। मिथ्या होते हुए भी अनुभवकालमें तो वह सत्य है ही, ठीक वैसे ही जैसे कि रस्सी होते हुए भी हमको अँधेरेमें सर्पकी अनुभूति होती जो अनु-

भूतिकालके लिये हमारे लिये सच है।

यहाँतक तो वेदान्तकी बात हुई। इसके आगेका क्रम सांख्य-दर्शन बतलाता है। पुरुषका प्रतिवाद प्रधान, मूल प्रकृति, अविद्या है। इन दोनोंका युक्तवाद बुद्धितत्व महत् है। उससे चलकर हम क्रमशः अहङ्कार, मन आदिसे होते हुए इस विस्तृत चराचरात्मक विश्व, भौतिक और मानस जगत् तक पहुँचते हैं। वह एक ब्रह्मतत्व अपने प्रतिवाद मायासे मिलकर नानात्वको प्राप्त हुआ है।

मेरे कहनेका यह तात्पर्य्य नहीं है कि वेदान्त और साँख्यके सिद्धान्त पूर्णतया मिलते-जुलते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि दोनों में बहुत भेद है। मैं यह भी नहीं कह रहा हूँ कि जिस बातको व्यास, शङ्कराचार्य्य और कपिल कहते हैं उसी बातको हेगेल और उनके अनुयायी दूसरे शब्दोंमें दुहरा रहे हैं। बात इतनी सीधी नहीं है। ऐसा मान लेना इन तीनों आचार्य्यों और इनकी शिष्य परम्पराके साथ अन्याय करना और इनके सिद्धान्तों को गलत तरहपर रखना होगा। हाँ, इतना मैं निःसन्देह कहना चाहता हूँ कि दोनों ओरकी विचार-धाराओंमें कुछ-कुछ साम्य है। यदि जड़ और चेतन, शरीर, अन्तःकरण और आत्माको पृथक्-पृथक् न मानकर जगतको किसी एक अद्वय सत्पदार्थका विकसित रूप मानना हो तो किसी न किसी प्रकारसे द्वन्द्ववादको ही मानना पड़ेगा। इससे दृश्य, प्रत्यक्ष अनुभूत, नानात्वके साथ वास्तविक,

गम्भीर मननके विषय, एकत्वका सामञ्जस्य और समन्वय हो जाता है।

यह हेगेलके आध्यात्मिक सिद्धान्तका बहुत ही अपूर्ण दिग्दर्शन है। अब मैं उनके राज-विषयक सिद्धान्तको समझानेका प्रयत्न करूँगा। इतना तो स्पष्ट हो ही गया होगा कि हेगेलका जो भी वक्तव्य होगा वह गम्भीर दार्शनिक रंगमें रंगा होगा।

पहिली बात तो यह है कि राजका विकास भी द्वन्द्वन्यायके ही अनुसार होता है। वह भी प्रतिक्षण संस्कारको प्राप्त होता रहता है।

राजके अन्तर्गत हजारों-लाखों व्यक्ति होते हैं। इन सबके संयोगसे ही राज बनता है। परन्तु संयोग दो प्रकारका होता है। बहुत-सी ईंटोंका एक ढेर भी ईंटोंका संयोग है, ईंटोंका बना हुआ घर भी ईंटोंका सयोग है। लड़ाईके मैदानमें पड़े हुए सिर, पैर, हाथ आदिके ढेरमें भी संयोग है, मनुष्यके शरीरमें भी सिर, पैर आदि अंगोंका संयोग है। यह दोनों संयोग एकही प्रकारके नहीं हैं। एक संयोगमें प्रत्येक टुकड़ेका पृथक् व्यक्तित्व बना रहता है। सब टुकड़े एक दूसरेके पास-पास रख भर दिये जाते हैं, दूसरे प्रकारके संयोगमें टुकड़ोंका पार्थक्य जाता रहता है, वह सब एक दूसरेके प्रपूरक बनकर एक अंगी बनाते हैं। हमारे शरीरमें हाथ या पाँव अपने लिये नहीं, वरन् शरीरके लिये हैं, उसके जीवनका महत्व इस बातमें है कि वह शरीरके जीवनका साधक है। यदि कोई अंग शरीरकी उन्नतिसे स्वतंत्र

रहकर पनपना चाहे तो वह भद्दा लगेगा और नश्तर लगा कर काट दिया जायगा। जितना ही अंग अपनी पृथक् सत्ताको अङ्गीकी सत्तामें खो देते हैं उतना ही संयोग सफल होता है और उनका जीवन सार्थक होता है। पान, कत्था, चूना सुपारी, सबका अपना अलग-अलग स्वाद है। इन पृथक् स्वादोंका अनुभव हो सकता है और इनको पास-पास रखनेसे एक ही पानदानमें बन्द करने पर भी ज्योंका त्यों बना रहता है। पर बीड़ा लगाया जाता है तो उसमें एक नये स्वादका अनुभव होता है। यह स्वाद निःसन्देह ही पान, कत्थे, चूने और सुपारीके मेल से उत्पन्न हुआ है पर अपूर्व है, पृथक् पृथक् इनमेंसे किसीमें न था।

इन दोनों प्रकारके संयोगोंमें क्या अन्तर है? एकमें केवल सान्निध्य—निकटता, पास रहना, दूसरेमें संघटन—किसी नियमके अनुसार किसी प्रयोजनको सामने रखकर, मिलाया जाना। संघटनसे जो अवयवी बनता है वह अपने अवयवोंका समूह मात्र नहीं होता, उनसे एक पृथक् सत्ता रखता है। पेड़ अपनी डाल, पात, आदिका समूह मात्र नहीं है; शरीर हाथ पाँव नाक कानका समूह मात्र नहीं है। बीड़ा, कत्था, चूना, सुपारी-का समूह मात्र नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकारके संयोगसे जो अंगी बनता है उसकी एक पृथक् आत्मा ही होती है। वह ऐसे काम करता है जो उसके पृथक् अंगोंके कामों-से नितान्त भिन्न होते हैं। अतः संघटन-मूलक संयोगसे एक

नयी आत्मा, धर्मोंकी सृष्टि होती है।

मनुष्योंका भी कई प्रकारका संयोग होता है। सड़कपर सैकड़ों आदमी चलते रहते हैं पर उनमेंसे हर एक हर दूसरे आदमीसे स्वतंत्र है। सबका अपना अलग काम है, अलग प्रयोजन है। आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं है। पर जब कभी लाख पचास हजार आदमी कुम्भके मेलेके लिए एकत्र हो जाते हैं तो दूसरी बात हो जाती है। सबका एक ही प्रयोजन रहता है। सब अपनेको यात्री मानते हैं, कुछ देरके लिए सबका हित एक हो जाता है, सब एक स्वरसे बोलते हैं। थोड़ी देरके लिए ऐसी बातोंके लिए तैयार हो जाते हैं जैसे खुले मैदानमें पड़े रहना, पास-पास झोपड़ी बनाकर रहना, संकुचित स्थानमें खाना पीना, जल्दीसे जलमें एक डुबकी लगाकर निकल आना इत्यादि, जो इनमेंसे किसीको भी अलग अलग पसन्द नहीं है। यह सब इसलिये होता है कि मेला थोड़ी देरके लिये संघटित समूह होता है। पाठशाला उससे अधिक देरके लिए संघटित रहता है और संघठनसे उत्पन्न आत्माका बड़ा अच्छा उदाहरण है। लोग अपने स्कूल या कालिजकी इज्जतके लिये खेलते हैं, रुपया जमा करते हैं, दूसरोंसे लड़ जाते हैं। दूसरा उदाहरण सेनाका है। ऐसा प्रतीत होता है कि सेना सिपाहियोंकी भीड़मात्र नहीं है, उसकी भी अपनी एक पृथक् स्वतंत्र आत्मा होती है।

मेला अत्यल्पकालीन संघटन है, पाठशाला या सेना उसकी अपेक्षा दीर्घ कालीन हैं परंतु राज तो इन सबकी अपेक्षा

चिरजीवी है। राजके बिना तो व्यक्ति पाया नहीं जाता। हम विषयसुखमें देख चुके हैं कि राजके द्वारा मनुष्यके जीवनकी मौलिक आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है। यदि राज न हो तो मानव जीवनका या तो अन्त ही हो जाय या कमसे कम, वह मानव जीवन न रह जाय। अतः राज एक ऐसा संघटन है जो मानव समाजके साथ उत्पन्न हुआ और उसके साथ ही समाप्त होगा। मनुष्योंके संघटित समूह होनेके कारण राजमें भी वह धर्म्म पाया जाता है जो सभी संघटित समूहोंका लिंग है उसकी भी अपनी एक आत्मा है। राज आकस्मिक भीड़ नहीं है; उसकी सत्ता अपने अवयवभूत व्यक्तियोंकी सत्तासे अवश्य ही आविर्भूत हुई है या वह उनको अतिक्रमण करती है, उनसे पृथक्, स्वतन्त्र है।

जब यह बात स्पष्ट हो गयी तो यह भी स्पष्ट ही है कि व्यक्ति और राजका सम्बन्ध अङ्ग और अङ्गीका है। व्यक्तिके जीवनकी सार्थकता वहींतक है जहाँतक उससे राजके जीवनका पोषण होता है। उसका अपना कोई महत्त्व नहीं है। वह राजके सामने उतना ही महत्त्व रखता है जितना शरीरके सामने उसके किसी अंगका एक मूलकोष। उसकी अपनी उन्नतिका कोई अर्थ नहीं है। राजकी उन्नतिमें उसकी उन्नति है, राजकी अवनतिमें उसकी अवनति है। राजके हितके लिये उसकी बलि उसी प्रकार होगी जिस प्रकार शरीरके हितके लिये किसी अंगकी होती है। जबतक व्यक्ति अपने

पार्थक्यका अभिमानी रहेगा, जबतक वह अपनेको राजसे पृथक् अपने हितको राजके हितसे पृथक् समझता रहेगा तबतक वह दुखी रहेगा, उसका जीवन अपूर्ण रहेगा, जबतक वह राजसे अपनेको पूर्णतया अभिन्न जान लेगा उसी समय उसका जीवन पूर्ण हो जायगा, वह सुखी होगा।

यदि यह बात ठीक है तो व्यक्ति कोई भी काम ऐसा नहीं करेगा जो राजके हितके विरुद्ध हो, क्योंकि जो राजके हितके विरुद्ध है वह उसके निजी हितके विरुद्ध है और अपने निजी हितका हनन तो कोई पागल ही कर सकता है। काम, आचरण, के मूलमें इच्छा, सकल्प होता है। इसलिये यह मानना चाहिये कि प्रत्येक समझदार व्यक्तिकी वही इच्छा होगी, प्रत्येक ऐसे व्यक्तिका वही संकल्प होगा जो उस समय राजकी इच्छा होगी, राजका संकल्प होगा। राज अपनी इच्छाओं और संकल्पोंको अपने कानूनों, अपनी विधिनिषेधात्मक आज्ञाओंके द्वारा प्रकट किया करते हैं। अतः प्रत्येक समझदार व्यक्तिकी इच्छा और संकल्प राजके 'कानून' और आज्ञाओंके अनुकूल होगे। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्तिको राजके कानूनोंमें अपने मनोभावोंकी झलक देख पड़ेगी; उसको प्रत्येक राजाज्ञाके विषयमें यह प्रतीत होगा कि ऐसा ही होना चाहिये था, मैं भी यह चाहता था। चाहे पहले वह बात न भी सूझी हो, पर एक बार राजकी ओरसे घोषित हो जानेपर उसमें अपना पूरा-पूरा स्वारस्य, पूरी-पूरी सहमति, होनी चाहिये।

परन्तु व्यवहारमें ऐसा होता तो नहीं। हम राजके कई कानूनों, उसके कई हुक्मोंको पसन्द करते हैं। उसके साथ हमारा स्वारस्य होता है। कुछके विषयमें हम तटस्थसे रहते हैं। वह हमको न भले लगते हैं, न बुरे। वह हमारी दृष्टिमें अनावश्यकसे होते हैं। पर किसी-किसी कानून, किसी-किसी राजाज्ञाको गलेके नीचे उतारना हमारे लिये कठिन ही नहीं असम्भव हो जाता है। हम उनकी उपादेयता कदापि स्वीकार नहीं कर सकते, हमको वह हानिकर, हमारे हितोंके विरुद्ध, जान पड़ते हैं। बलात् हमसे चाहे जो करा लिया जाय पर अपनी इच्छासे हम उनको माननेको तैयार नहीं होते। ऐसी बातोंमें यह नहीं देख पड़ता कि हमारी निजी इच्छा राजकी इच्छासे अभिन्न है।

यह आपत्ति आये दिनके अनुभवपर आश्रित है और योंही नहीं टाली जा सकती। आदर्शवादी विद्वान् इसको योंही टालते भी नहीं। वह कहते हैं कि हममेंसे प्रत्येक मनुष्यकी बुद्धि वस्तुतः दो बुद्धियोंका युग्म है। एक तो हमारा उत्तम 'स्व' है। इसे आदर्शवादी परिभाषामें 'वास्तविक संकल्प' कहते हैं। यह निर्मल, निष्पत्त है। दूसरा हमारा अधम स्व, आदर्शवादी शब्दोंमें 'दृश्य संकल्प' है। यह अज्ञान और तज्जनित लोभ, मोह, काम आदि विकारोंके कारण कलुषित रहता है। साधारणतः हम इसीसे काम लेते हैं। इसलिये अपने हिताहितको ठीक-ठीक पहिचान नहीं पाते। ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता है और

अनुभव परिपक्व होता है, त्यों-त्यों दृश्य संकल्प परिमार्जित होता है। परिमार्जनका अर्थ है बुद्धिसे अविद्याका आवरण उठना। जब आवरण उठ जायगा तो दो बुद्धियोंका भेद मिट जायगा। अधम स्व उत्तम स्व हो जायगा, दृश्य संकल्पका तिरोभाव हो जायगा और विशुद्ध वास्तविक संकल्प रह जायगा।

यह हमारा वास्तविक संकल्प राजके सकल्पसे अभिन्न है। विशुद्ध बुद्धि सच्चे हिताहितको पहिचानकर वास्तविक संकल्प द्वारा, जो राजहित साधक संकल्पसे पूर्णतया मिलता होगा, हितकी सिद्धिका उपाय करेगा। पर अधिकांश लोगोंमें यह वास्तविक संकल्प दबा रहता है। यदि वह उद्बुद्ध होता तो वह राजसंकल्पसे मिलता। इस मतके अनुसार चोर, डाकू तकका वास्तविक संकल्प उन कानूनोंका समर्थन करता है जिनका प्रत्यक्षमें वह अपने दृश्य संकल्पके कारण विरोध करते हैं। बुद्धिका संस्कार शिक्षासे और अनुभवसे, यह देखकर कि राजाज्ञा हितकारी और श्रेयस्करी ही होती है, होता है। अतः समाजका कर्तव्य है कि सच्छिक्षाका प्रबन्ध करे ताकि व्यक्ति, राजसे अपने अभेदको समझे। व्यक्तिको भी बराबर इस बातपर मनन करके अपनी बुद्धिका परिष्कार करना चाहिये। बोजाँकेट कहते हैं 'अपनी वास्तविक इच्छाको ठीक-ठीक जाननेके लिये यह आवश्यक है कि हम अपनी क्षण-विशेषकी इच्छाका संशोधन अपने अन्य क्षणोंकी

इच्छाओंके द्वारा करें। पर हमारी इच्छा अन्य लोगोंकी इच्छासे टकराती है। अत: हमको अपनी इच्छाका संशोधित रूप तभी प्राप्त हो सकता है जब हम उसका जोड़ दूसरोंकी इच्छाओंके साथ बैठा सकें। यह तभी सम्भव है जब हम दूसरोंकी क्षणिक इच्छाओंका संशोधन उनकी अन्य क्षणोंकी इच्छाओं द्वारा कर लें।

परन्तु इस क्रियामें समय लगता है और सम्भवत: किसी एक व्यक्तिके जीवनमें यह काम पूरा होता भी नहीं। ऐसा स्यात् ही कोई व्यक्ति होगा जिसको राजके साथ ऐसी तन्मयता प्राप्त हो गयी हो कि वह राजके हर कामको अपना काम समझे, राजके प्रत्येक कानून, उसकी प्रत्येक आज्ञामें, अपनी इच्छा, अपनी बुद्धि, अपने संकल्पकी छाया देखे, राजकी किसी बातसे रुष्ट न हो। साधारण मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। उसकी बुद्धि बहुत सी बातोंमें राजकी बुद्धिसे उलझती है। वह क्या करे ? आदर्शवादी इस प्रश्नका सीधा उत्तर देता है। यदि व्यक्तिकी बुद्धि राजकी बातोंको ठीक-ठीक ग्रहण नहीं कर पाती तो यह उसका दोष है। ऐसी दशामें व्यक्तिको अपनी बुद्धि सुलझानेका प्रयत्न करना चाहिये और चुपचाप राजकी आज्ञाको शिरोधार्य्य करना चाहिये। उसको राजका विरोध करनेका कदापि अधिकार नहीं है। राजसे लड़ना, उसको क्षति पहुँचाना, अपनी जड़ काटना है, जो कोई पागल ही कर सकता है।

राज और व्यक्तिके सम्बन्धमें अध्यात्मवादी विद्वानोंने जो विचार-धारा चलायी है उसका यह दिग्दर्शन है। विचार गम्भीर हैं, मनन करने योग्य हैं। जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है महत्त्वाकांक्षी-राजोंको तो यह सिद्धान्त बहुत ही प्यारा है। इसने राजको ब्रह्म, ईश्वर, माया आदिकी भांति एक सूक्ष्म आध्यात्मिक पदार्थ बना दिया है। जिस प्रकार उपासना-विषयक ग्रन्थ जीवको ईश्वर या आत्माको ब्रह्ममें लीन होनेका उपदेश दिया करते हैं उसी प्रकार इसमें व्यक्तिको राजके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करनेको कहा जाता है। उसको बतलाया जाता है कि राज ही उसके जीवनको पूर्णता प्रदान करता है। ऐसी बातोंमें चित्तमें राजके प्रति श्रद्धा और आदरका उदय होता है। राजके अधिकार निःसीम हो जाते हैं। मध्यकालमें राजाके ऊपर कमसे कम धर्मशास्त्रका बन्धन था। वह अपनेको ईश्वरका नायब कहता था इसलिये ईश्वरके वाक्यके विरुद्ध तो नहीं ही जा सकता था हिन्दू राजाकी स्वच्छन्दता वहीं तक थी जहाँ तक कि वह श्रुतिस्मृतिकी स्पष्ट आज्ञाओंके प्रतिकूल न हो। मुसलमान-नरेश शरअकी परिधिके बाहर नहीं जा सकता था; ईसाई-नरेशपर बाइबलकी व्याख्या करनेवाले पोपकी लगाम रहती थी। पर अध्यात्मवाद इन सब बन्धनोंसे मुक्त करके राजको सर्वशक्तिमान बना देता है। एक और सुविधा है। राजके साथ अपना अविच्छेद्य सम्बन्ध माननेके कारण प्रजा हँसते-खेलते राजके हर कामकी जिम्मेदारी अपने ऊपर ओढ़ लेती

है। ईश्वर शासकोंसे जवाब तलब करे या न करे पर जनता तो पूछ ही नहीं सकती। राजकी आज्ञाका विरोध करना अपने हितका विरोध करना है। यदि कोई बात ठीक नहीं जँचती तो यह अपना दोष है, पर आज्ञाका पालन तो होना ही चाहिये। ईश्वरका नाम न लेते हुए भी, स्वर्गका लोभ और नरकका भय दिखलाये बिना ही, यह सिद्धान्त आज्ञाकारिताको एक प्रकारका धार्मिक कृत्यसा बना देता है। राजकी सेवा करना अपने उस भगवान्‌की सेवा करना-सा है जिसमें अपनेको लीन होना है। यदि सेवा करते करते कुछ कष्ट भी हो तो भक्त इस लीलाको हँसते हँसते सह लेता है। ऐसा मानता है कि इसमें भी मेरा कल्याण ही है। इन्हीं बातोंको देखकर राजोंने, विशेषतः जर्मन राजोंने, इसका खूब प्रचार किया। सारे यूरोपमें इस सौ सवा सौ वर्षके कालमें व्यक्तिकी स्वाधीनताके आन्दोलन चल रहे थे। राजकी शक्ति कम होनी चाहिये, व्यक्तिके अधिकार बढ़ने चाहियें, ऐसे उपाय निकलने चाहिये कि जनता की सम्मति लिये बिना राज कोई बड़ा काम न कर सके और व्यक्तिके कामोंमें उसका कमसे कम दखल हो, यही मांग थी। एकके पीछे दूसरे देशमें यह आन्दोलन सफल हो रहा था, प्रजाका बल बढ़ता जाता था। परन्तु जर्मनीमें एक पार्लमेण्टके होते हुए भी राजकी शक्ति अक्षुण्ण रही, क्योंकि शिक्षालयोंने जर्मन-जनताकी मनोवृत्तिको ठीक रखनेमें राजका पूरा पूरा हाथ बँटाया था।

अब हलको इस सिद्धान्तपर थोड़ा विचार करना है।

यह तो प्रत्यक्ष है कि यह हमारे साधारण अनुभवके विरुद्ध जाती है। जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूं हममेंसे ऐसा कोई नहीं है जो अपना इच्छाका हर बातमे राजकी इच्छाके साथ पूरे तादात्म्य, पूरी एकता का अनुभव करता हो। तब इस सार्वभौम अनुभवको निराधार माननेका क्या कारण है? इस बातको क्यों माना जाय कि हमारे भीतर हमारे दृश्य संकल्पके सिवाय एक वास्तविक संकल्प, उत्तमस्व, शुद्ध बुद्धि है, यह बुद्धि प्रत्येक व्यक्तिमें पायी जाती है और राजकी बुद्धिसे सर्वथा मिलती है? यह ठीक है कि हम सब अपना हित चाहते हैं, यह भी समझते हैं कि हमारा हित उस समय तक नहीं हो सकता, जबतक कि हमारा समाज, हमारा राज सुखी और समृद्ध न हो, इसलिये हम सब यथाशक्ति राजके लिये अपने निजी सुखोंकी बलि करनेको तैयार रहते हैं। यह इसलिये होता है कि हमको राजके अस्तित्वसे और उसके शक्तिसम्पन्न होनेसे प्रत्यक्ष लाभ देख पड़ते हैं। हम राजकी बात इसलिये मानते हैं कि विचार करनेसे वह हमको ठीक जँचती है। यह कोई दार्शनिक सिद्धान्त या आध्यात्मिक अनुभव नहीं, व्यावहारिक प्रत्यक्ष है। जो बात हमको ठीक नहीं जँचती उसके विषयमें यह मान लेना कि यदि हमारी छिपी हुई शुद्ध बुद्धि काम करती तो वह उसे समझ पाती निराधार कल्पना प्रतीत होती है। यह भी कैसे मान लें कि सबकी शुद्ध बुद्धि एक ही बातको ठीक मानेगी? एक राजमें पूंजीपति

भी रहते हैं और समष्टिवादी भी। दोनों ही अपना हित चाहते हैं और इसके साथ ही, समाजका, मनुष्यमात्रका कल्याण चाहते हैं। पर जिसमें एक कल्याण देखता है, उसीको दूसरा क्लेशकारी समझता है। यह कैसे मान लें कि इन दोनों समुदायोंकी शुद्ध-बुद्धियाँ किसी एक जगह मिल जायेंगी? किसी पुराने हिन्दू राजमें भंगी, डोम आदि अन्त्यज मानी जानेवाली जातियोंको सब राजनीतिक अधिकारोंसे ही नहीं, वरन् अच्छे घरों, साफ-सुथरे कपड़ों पालकीकी सवारी आदिसे तथा देवदर्शनसे वंचित रखना द्विजोंकी दृष्टिमें ठीक था। पर यह कैसे माना जाय कि अन्त्यजोंकी अन्तरात्मा भी इन बातोंको उचित स्वीकार करती थी? औरंगजेबने हिन्दू मन्दिर ढहा दिये और हिन्दुओंसे जजिया लेता था। क्या ऐसा माननेका कोई भी आधार है कि हिन्दुओंकी शुद्ध बुद्धि राजकी इस हिन्दू धर्मविरोधिनी नीतिको श्रेयस्कर मान लेती? यह कैसे मान लें कि भारतीय जनताका उत्तमस्व ब्रिटिश राजकी भारतीय नीतिको हृदयङ्गम कर लेगा?

फिर, दार्शनिक शब्दाडम्बर छोड़कर देखिये तो 'राजकी इच्छा', 'राजका संकल्प' इत्यादिका तात्पर्य क्या है। इन शब्दों-का उतना ही अर्थ है जितना कि "समयकी पुकार', 'कुलकी इज्जत' आदि लाक्षणिक शब्दोंका होता है। एक लम्बी बात थोड़ेमें कह दी गयी, पर इससे कुल या समय या राज नामका कोई प्राणी उत्पन्न नहीं हो गया। राजका संकल्प राजमें शासन

करनेवालोंका, राजकी सर्कारका, संकल्प है। राजकी इच्छा शासकोंकी इच्छा है। शासक लोग अमूर्त, अव्यक्त, देवता नहीं हमारे जैसे मनुष्य होते हैं। वह भी रागद्वेषादिसे अभिभूत होते हैं। उनको भी सर्वज्ञता प्राप्त नहीं है, अर्थात् उनकी बुद्धियां भी पूर्णतया परिपक्व नहीं होतीं। अतः उनसे भी भूलें होंगी। जितना ही उनपर नियन्त्रण कम होगा, जितने ही उनको निरंकुश अधिकार दिये जायँगे, उतना ही उनसे और गलतियां होंगी। अधिकारका मद बुरा होगा। मनुष्य होनेके कारण वह भी ऐसा प्रयत्न करेंगे, ऐसी आज्ञाएँ निकालेंगे, ऐसे कानून बनाएँगे, जिससे उनके और उनके उत्तराधिकारियोंके स्थान सुरक्षित रहें, शासनकी लगाम दृढ़ताके साथ सदाके लिये उनके ही हाथोंमें रह जाय। प्रजावर्गके विभिन्न व्यक्तियोंमें वह भले ही निष्पक्ष हों, पर अपने साथ उनका पक्षपात स्वाभाविक मानवता होगी।

और फिर 'राजके हित' का ही क्या अर्थ है? राजका ऐसा कौनसा हित है जो राजके सदस्यों, राजान्तर्गत व्यक्तियों के हितोंसे विभिन्न और ऊपर है? यह तो ठीक है कि कभी कभी बहुसंख्यक लोगोंका हित अल्पसंख्यक लोगोंके हितके विरुद्ध होता है। उस समय सामान्यतः बहुसंख्यकोंके हितका साधन करना पड़ता है, चाहे अल्पसंख्यकोंकी क्षति भी हो जाय। यदि अल्पसंख्यकोंके हाथमें शासनकी बागडोर है तो बहुसंख्यकोंके हितको भी ठुकराया जा सकता है। नाम राजका भले ही लिया

जाय, पर सब जानते बूझते हैं कि एक विशेष वर्गके हितकी बात सोची जा रही है। ऐसे काम भी राज करता है जिनसे सभी या प्रायः सभीका लाभ होता है। उस अवस्थामें यह कहेंगे कि राजका हित व्यक्तिका हित है। पर यदि राज कोई ऐसा काम करता है, अर्थात् राजके नामपर सर्कार कोई ऐसा काम करती है जो किसीको या एक बड़े समुदायको अनिष्टकर प्रतीत होता है उस समय शासकोंका विरोध क्यों न किया जाय? राजका वह कौनसा कपोलकल्पित हित है जो राजके अन्तर्गत व्यक्तियोंका हित नहीं है? सर्कारके अंगभूत मनुष्योंकी बुद्धिके आगे अपनी बुद्धिका सिर क्यों झुका दिया जाय? इससे तो उनकी निरंकुशता और अधिकार-लिप्सा और बढ़ेगी और उनके हाथों लोगोंका और भी अनिष्ट होगा।

सार्वजनिक कामोंकी कसौटी यह नहीं हो सकती कि उनका कर्तृत्व राजके जिम्मे है वरन् यह कि उनके औचित्यको हमारी बुद्धि ग्रहण करती है। इसलिये केवल दार्शनिक परिभाषाके जोरपर राज अर्थात् शासक अपने कामोंका दायित्व जनतापर अर्थात् राजके व्यक्तियोंपर नहीं डाल सकते। व्यक्ति राजके उन्हीं कामोंके लिये दायी है जिनको उसकी बुद्धिकी सक्रिय स्वीकृति प्राप्त हो।

इन आक्षेपोंका उत्तर यह दिया जाता है कि अभीतक विकासकी कमीके कारण जितने भी राज हुए हैं उनमेंसे कोई भी आदर्श तक नहीं पहुँचा। सबमें कमियाँ रही हैं। उनके

शासकोंमें अनेक प्रकारकी कमजोरियाँ रही हैं, उन्होंने बहुत सी भयंकर भूलें की हैं, ऐसे काम कर बैठे हैं जो लोकहितके विरुद्ध रहे हैं। यह उत्तर कोई उत्तर नहीं है। हो सकता है कि आदर्श राजमें शासक भी आदर्श शासक होंगे। उस समय प्रजा भी आदर्श प्रजा होगी। व्यक्ति सहर्ष अपने व्यक्तित्वको दबाकर राजके प्रत्येक कामको अपने वास्तविक संकल्प द्वारा प्रेरित मान कर उसको शिरोधार्य्य कर लेगा। पर आज न वैसा राज है, न

नोट—ऊपर हमने 'राज' शब्दकी व्यावहारिक व्याख्याको लेकर ही विचार किया है, पर इसका बहुत व्यापक अर्थ भी लगाया जाता है। बोजाङ्केट कहते हैं "राज केवल राजनीतिक संस्था नहीं है वरन् वह उन सब छोटी-बड़ी संस्थाओंकी समष्टि है जिनके द्वारा जीवन निर्धारित होता है। उसमें परिवार, व्यापार, सम्प्रदाय, विश्वविद्यालय सभी अन्तर्भूत हैं। राज ही वह वस्तु है जो इन सबको सजीव और सार्थक बनाता है।" हेगेल तो राजकी प्रशंसामें गद्य काव्यकी रचना करने लग जाते हैं। उनके कथनानुसार राज ही मनुष्यके जीवनको आध्यात्मिक सत्यता देता है। राजकी सत्ता जगत्‌में परमात्माकी गति है। "विश्वात्मा पृथ्वीपर अपने स्वरूपका ज्ञानपूर्वक अनुभव राजके रूपमें करता है।" यह सब गूढ़ वर्णन राजकी सत्ताको ऐसी सर्वव्यापक, सर्वाधारस्वरूपा, बना देता है कि वह ईश्वरका विराट्-रूप 'सहस्र-शीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः सहस्रपात्' हो जाता है। इस विराट्‌में अपने ठीक स्थानको समझना समाधिके द्वारा ईश्वर साक्षात्कारके तुल्य प्रतीत होता है।

वैसे शासक, इसलिये वैसे शासित व्यक्ति भी नहीं हो सकते। राज्य एक व्यावहारिक संगठन है, उसमें एक अतिदूरस्थ आदर्शके सहारे काम नहीं चल सकता।

राजको ऐसी व्यापक व्याख्या करनेसे उस शब्दकी महत्ता भले ही बढ़ जाती हो पर कोई दूसरा लाभ नहीं होता। यदि राज शासक और शासितका संघटन है, तब तो राजाज्ञा राजसंकल्प आदि शब्दोंका कुछ अर्थ भी निकल सकता है और राज्यके प्रति अपना कर्तव्य भी स्थिर किया जा सकता है पर यदि राज समाजके सम्पूर्ण जीवनपर फैला हुआ है तब तो किसी अवसर विशेषपर उसकी इच्छाका जानना प्रायः असम्भव और अपना कर्त्तव्य स्थिर करना भी उतना ही असम्भव हो जायगा। व्यवहार में वही सर्कार और प्रजाका भेद काम देगा।

३

द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद

आज कल पृथ्वीपर समाजवादका महत्व बढ़ता जाता है। रूसमें तो समाजवादी सर्कार ही है, दूसरे देशोंमें भी बहुतसे समाजवादी रहते हैं। पढ़े-लिखे लोगोंके विचारोंपर समाजवादकी छाप पड़े बिना नहीं रहती। जो लोग समाजवादके विरोधी हैं उनको भी इसको ध्यानमें रखना पड़ता है।

आधुनिक समाजवादके प्रवर्तक मार्क्स और एंगेल्स थे। इनके विचारोंको लेनिनने विकास दिया और व्यवहारके क्षेत्रमें उतारा।

बहुधा लोगोंका ध्यान समाजवादके व्यावहारिक रूपोंकी ओर अधिक जाता है। समाजवादका पर्याय पूंजीवादका नाश समझा जाता है। पूँजीवादका नाश समाजवादका अवश्यम्भावी परिणाम अवश्य है, पर उसका सर्वस्व नहीं है। उसका भी अपना एक दार्शनिक मत है। यह मत हेगेलके द्वन्द्ववादसे ही निकला है। मार्क्स और एँगेल्स भी ऐसा

मानते हैं कि जगत्का विकास द्वन्द्वन्यायसे हुआ है पर उनके और आदर्शवादियोंके बीचमें एक बड़ी दीवार है। अध्यात्म-वादी कहता है कि जगत्का मूल पदार्थ चेतन था, उसका स्वरूप अहम्-अहम् (मैं, मैं) था। समाजवादी आचार्य्योंका कहना है कि मूल पदार्थ अचेतन, जड़ था। वह अपने स्व भावके कारण द्वन्द्वन्यायके अनुसार क्रमविकाससे इस विस्तृत जगतके रूपको प्राप्त हुआ। चेतनता उसका आदिका धर्म्म नहीं है, बीचमें उत्पन्न हुई। जगत्के उस मूल तत्व, उस जड़ पदार्थको जो सबका उपादान कारण है, जिससे सब कुछ बना है, प्रधान कहते हैं और समाजवादियोंके इस दार्शनिक विचारधाराको द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद कहते हैं। इस सिद्धान्तको समझना बहुत जरूरी है। नीचे मैं अपनी 'समाजवाद' नामक पुस्तकके वह अंश उद्धृत करता हूँ जिनमें इसका दिग्दर्शन कराया गया है:--

यह जगत सत्य* है। कुछ लोग इसको स्वप्नवत् मिथ्या

*दर्शनका अध्ययन पाश्चात्य देशोंमें केवल सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए होता है। लोग यथासम्भव जगत्का स्वरूप, उसका कारण, उसका विकास, जीव-अजीवका रहस्य आदि समझना चाहते हैं। भारतमें दर्शनके अध्ययनका उद्देश्य मोक्ष है। समाजवादीका उद्देश्य इन दोनोंसे भिन्न है। वह जगत्का रहस्य इसलिए जानना चाहता है कि उसको समझकर जगत्को परिवर्तित कर सके। वह जगत्की वर्तमान अवस्थाका सुधार ईश्वर, प्रारब्ध या नियतिपर नहीं छोड़ना चाहता।

मानते हैं पर यह उनकी भूल है। इसके मिथ्यात्वका कोई प्रमाण नहीं है। उस पदार्थको सत्य कहते हैं जिसकी सत्ता द्रष्टासापेक्ष न हो अर्थात् जिसकी सत्ता किसी साक्षीपर निर्भर न हो। मैं अपने कमरेमें बैठा हूँ। मेरे सामने एक पुस्तक है। यह कहा जा सकता है कि यह पुस्तकरूपी दृश्य मेरे अन्तःकरण रूपी द्रष्टाकी अपेक्षा करता है अर्थात् यदि मैं इसका अनुभव करनेवाला न होता तो इस पुस्तकका अस्तित्व लुप्त हो जाता। इसपर यह आपत्ति की जा सकती है कि मैं हूँ या न हूँ पुस्तक होगी। इसके जवाबमें यह कहा जाता है कि मैं न सही, कोई न कोई अन्तःकरण तो उसका अनुभव करनेवाला होगा। यदि यह बात ठीक हो कि प्रत्येक वस्तुकी सत्ता किसी न किसी अनुभव करनेवाले अन्तःकरणकी अपेक्षा करती है तो क्या उस जगह जहां अनुभव करनेवाला पशु-पक्षी-मनुष्य किसीका अन्तःकरण नहीं है वहाँ जगत नहीं है? या जिस समय मनुष्यादि

जैसा कि मार्क्सने कहा है, दार्शनिकोंने जगत्को अनेक प्रकारसे समझनेकी चेष्टा की है, प्रश्न यह है कि उसको परिवर्तित कैसे किया जाय।

मेरा यह दावा नहीं है कि मार्क्स और एंगेल्सके दार्शनिक विचारकी जो व्याख्या मैं कर रहा हूँ वह उनके सभी अनुयायियोंको अभिमत है पर इसके साथ ही मेरा यह विश्वास है कि मैंने उसको कहीं विकृत नहीं किया है। भारतीय पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग मेरी सम्मतिमें सर्वथा उचित है और भारतीय विचारधारासे तुलना करनेमें सहायता देता है।

प्राणधारी नहीं थे, उस समय जगत्‌का अभाव था ? यदि किसी समय ऐसे सब अन्तःकरण कहीं प्रसुप्त या विलीन हो जायँ तो क्या जगत न रहेगा ? क्या सचमुच जगत मनोराज्य है ? जहाँ कोई अन्तःकरण नहीं है, वहाँ मनोराज्य कैसे होगा ? वहाँ तो केवल शून्यदिक् और शून्यकाल रहेगा। पर दिक् और काल भी तो अन्तःकरण द्वारा अनुभूत या अनुमित होते हैं या कुछ लोगोंके विचारके अनुसार अन्तःकरणके ही धर्म्म हैं, फिर जहाँ अन्तःकरण न होगा वहाँ दिक् और कालकी सत्ता कैसे रह सकती है ? इन सब प्रश्नोंके तीन प्रकारके उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह कि वस्तुतः जगत् मिथ्या है। उसका अस्तित्व है ही नहीं। दूसरा उत्तर यह है कि ईश्वर त्रिकालका साक्षी है। उसके अन्तःकरणमें जो संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं वह जगत्‌रूपसे प्रतीत होते हैं। जहाँ और जिस समय और कोई साक्षी नहीं होता उस समय भी ईश्वर रहता है, इसलिए उसके मनोराज्य-स्वरूप जगत् रहता है। जब मनुष्यादि कोई प्राणी नहीं था, तब भी ईश्वर था, इसलिए जगत् था। यही बात भविष्यकालके लिए लागू है। मार्क्स इन दोनों सिद्धान्तोंको नहीं मानते। उनका कहना है कि जगत् सत्य अर्थात् जब कोई अनुभव करनेवाला अन्तःकरण नहीं था, तब भी था और जब कोई अनुभव करने-वाला अन्तःकरण न होगा तब भी रहेगा।

जगत्‌के सत्य होनेका अर्थ यह है कि जगत्-प्रवाह अनादि और अनन्त है। इसका जो रूप आज है वह पहले न रहा होगा,

आगे भी न रहेगा। उसमें तो निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन शीलता उसका मुख्य लिङ्ग है। यह प्रश्न तो निरर्थक है कि जगत्की उत्पत्ति किससे हुई। इस प्रश्न करनेका तात्पर्य यह होगा कि एक दूसरा प्रश्न जगत्की उत्पत्तिके हेतुके विषयमें पूछा जाय। यदि कोई स्रष्टा माना जाय तो यह प्रश्न होगा कि उसने सृष्टि क्यों की ? इस सम्बन्धमें सभी देशोंके दार्शनिकोंने बहुत विचार किया है जिसको यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ही बतला देना पर्य्याप्त है कि मार्क्स जगत्का कोई आरम्भक या स्रष्टा नहीं मानते। जगत्का विकास अर्थात् उसके स्वरूपमें परिवर्तन किसी बाहरी शक्तिके अधीन नहीं है। उसकी भीतरी शक्ति, उसका स्वभाव ही, उसके लिये प्रेरक है। इसलिए जगत्की प्रगति किसी विशेष दिशामें नहीं है। उसका कोई विशेष, निश्चित, उद्देश्य नहीं है।

जगत्के विषयमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेका हमारे पास कोई साधन नहीं है। यदि जगत् किसी लौकिक या अलौकिक व्यक्ति-का मनोराज्य या उद्देश्यप्रसूति होता तो हम उस व्यक्तिके अन्तः-करणके साथ तादात्म्य प्राप्त करके उसको यथावत् जान लेते। वेदान्तके शब्दोंमें हमारा ज्ञान हस्तामलक ज्ञान होता पर जो पदार्थ स्वतन्त्र सत्ता रखता है और प्रतिक्षण परिवर्तनशील है उसको बुद्धिमें बाँधा नहीं जा सकता। पर ज्यों ज्यों हमारे ज्ञानके करणोंमें उन्नति होती जाती है त्यों त्यों हमारा ज्ञान यथार्थज्ञानके सन्निकट आता जाता है।

जगत्का मूल स्वरूप क्या था ? इसके सम्बन्धमें दो प्रकारके उत्तर हो सकते हैं। एक प्रकारका उत्तर तो यह है कि मूल पदार्थ एक ही था। दूसरा यह है कि जीव और अजीव चेतन और जड़, दो पदार्थ थे। इसीसे मिलता-जुलता योग दर्शनका यह सिद्धान्त है कि मूलमें पुरुष, ईश्वर और प्रकृति तीन पदार्थ थे। एक पदार्थ माननेवाला अर्थात् अद्वैतवादी सिद्धान्त भी दो प्रकारका हो सकता है। एक तो यह कि मूल पदार्थ चेतन था। यह शङ्कराचार्य्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्तका विशुद्धाद्वैतवाद है। इसीके अन्तर्गत वह सब सिद्धान्त है जो ब्रह्म या तत्सम किसी पदार्थकी विकृतिसे जगत्का विकास मानता है। मार्क्स और एंगेल्स इनमेंसे किसी भी सिद्धान्तको नहीं मानते। वह अद्वैतवादी हैं पर उनका जगन्मूल अद्वय पदार्थ चेतन नहीं है। उनके अनुसार इस जगत्का मूल-स्वरूप 'मेटर' था। इस पाश्चात्य 'मेटर' शब्दका पर्याय कुछ लोग भूत या तत्त्व करते हैं। मेटर पञ्चमहाभूतके लिए भी प्रयुक्त हो सकता है पर दार्शनिक परिभाषामें यह वह पदार्थ है जिससे जगत्का विकास हुआ है और जो स्वतः जड़ है। भारतीय दर्शनमें उस पदार्थको जिससे अन्य पदार्थ निकलते हैं प्रकृति कहते हैं। जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थसे निकला है उसे विकृति कहते हैं। अधिकांश पदार्थ प्रकृति-विकृति हैं अर्थात् वह किसी पदार्थसे निकले हैं और उनसे कोई पदार्थ निकलता है। परन्तु जगत्का मूल केवल प्रकृति है। इसीसे उसे मूल प्रकृति कहते हैं। उसका दूसरा नाम प्रधान भी है।

प्रधान जड़ है। उसकी सत्ता है पर उसमें चेतना नहीं है। उसका स्वरूप चित् नहीं केवल सत् है। यह प्रधान ही उच्च कोटिके यूरोपियन दर्शनका 'मैटर' है।

इस प्रधानसे, जो मूलतः अव्यक्त है, सारे जगत्का विकास होता है। सारा जगत—सारा चराचर विश्व—एक साथ ही नहीं निकल आता। क्रमशः एक पदार्थके पीछे दूसरा पदार्थ, एक अवस्थाके पीछे दूसरी अवस्था प्रकट होती है। सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूलसे स्थूल वस्तुएँ, कीटाणुसे लेकर मनुष्यतक, परमाणुके अङ्गभूत विद्युत्कणसे लेकर आकाशस्थ महासूर्यतक, रासायनिक तत्वोंसे लेकर बुद्धितत्त्व और चेतनातक, सभी इसीमेंसे अभिव्यक्त हुए हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि प्रधानका रूप विकृत कैसे होता है, उसमें परिवर्तन कैसे होता है?

प्रधानकी कोई भी अवस्था ले ली जाय, वह कई परस्पर विरोधी प्रवृत्तियोंकी साम्यावस्था होती है। यह विरोधी प्रवृ-त्तियाँ प्रसुप्त हों या उदार, पर जबतक यह एक दूसरीको सँभाले रहती हैं तबतक अवस्था एकसी रहती है। सांख्यके अनुसार भी सत्व, रज, तम अर्थात् तीनों परस्पर विरोधी गुणों-की साम्यावस्था ही प्रधान है। प्रत्येक अवस्थामें विपरीत धर्म्म एक दूसरेसे समवेत रहते हैं। इस विपरीत समवाय के द्वारा ही आगे चलकर विकास या परिवर्तन होता है। पर यह साम्या-वस्था बहुत दिनोंतक नहीं रह सकती। जिन विपरीत तत्त्वोंका

समावेश उस अवस्थामें होता है उनमें स्वभातः क्षोभ उत्पन्न होता है। धीरे धीरे एक कुछ प्रबल होने लगता है। उस कीमात्रा बढ़ती जाती है। बढ़ते बढ़ते एक ऐसी सीमातक पहुँच जाती है जब कि प्रधानकी वह पूर्वावस्था बदल कर नयी ही अवस्था, नया ही स्वरूप उत्पन्न होता है। इस प्रक्रियाको मात्राभेदसे गुणभेद' कहते हैं। उदाहरणके लिए जलको ले लीजिये। एक शक्ति है जो जलके परमाणुओंको एक दूसरेकी ओर आकृष्ट किये हुए है। दूसरी शक्ति उनको एक दूसरेसे पृथक् करती है। दोनोंकी साम्यावस्थामें जलका रूप रहता है। जब वियो-जक शक्तिकी मात्रा बढ़ने लगती है तो वह बढ़ते बढ़ते एक ऐसी सीमातक पहुँच जाती है जब जलके गुणके स्थानमें दूसरे गुण प्रतीत होने लगते हैं और जलके स्थानमें भाप आ जाता है। यदि संयोजक शक्तिकी मात्रा बढ़ती तो गुणा-न्तरकी प्रतीति होती और जलके स्थानमे बर्फ देख पड़ती। यह नयी अवस्था प्रथम अवस्थासे विपरीत होती है अतः इसे उसका विपरिणाम कहते हैं। परन्तु कुछ काल में जिस प्रकार पहली अवस्थासे दूसरी अवस्था बनी थी उसी प्रकार उस दूसरी अवस्थामें भी साम्यावस्थाका प्रणाश अर्थात् क्षोभ उत्पन्न होता है। अर्थात् यह भी बदलती है। इसका भी विपरिणाम उत्पन्न होता है। यह तृतीय अवस्था पहली अवस्थाके विपरिणामका विपरिणाम होती है। जिस प्रकार द्वितीय अवस्था प्रथम अवस्थामें बीजरूपसे वर्तमान है उसी

प्रकार तृतीय अवस्था द्वितीय अवस्थामें बीजरूपसे वर्तमान है। प्रत्येक अवस्था अपनी पूर्ववर्तीके विपरीत होती है पर अपने गर्भमें उसका कुछ अंश ले आती है। इस प्रकार प्रत्येक उत्तरवर्ती अवस्थामें प्रत्येक पूर्ववर्ती अवस्थाका कुछ अंश विद्यमान रहता है। जो विपरिणामका विपरिणाम होता है उसमें मूल और विपरिणाम दोनोंका समन्वय होता है अर्थात् वह दोनोंके मुख्यांशोंकी साम्यावस्था होता है। इसके बाद उसकी दशा स्वयं मूल अवस्था जैसी होती है। क्रमात् उसका विपरिणाम और फिर विपरिणामका विपरिणाम उत्पन्न होता है। यों ही परम्परा चलती रहती है और तत्त्वसे तत्त्वान्तर, अवस्थासे अवस्थान्तर बनता रहता है। यही इस जगत्के विकासका क्रम है।

मार्क्स और एंगेल्सने हीगेलसे इस विकासक्रमको तो ले लिया है पर जगत्का मूल उनके अनुसार कोई चेतन अहम् पदार्थ नहीं वरन् अचेतन प्रधान था। इसलिए इनका सिद्धान्त प्रधानवाद कहलाता है। ऊपर बतलाये हुए कारणसे उसके नामके साथ 'द्वन्द्वात्मक' विशेषण लगा हुआ है।

जब जगत्का मूल अचेतन था तो फिर किसी नित्य आत्माके लिए स्थान ही नहीं रह जाता। इसलिए इसे द्वन्द्वात्मक अनात्मवाद भी कह सकते हैं। 'द्वन्द्वात्मक' जोड़े रहना अच्छा है, अन्यथा बौद्ध जैसे अनात्मवादी दर्शनोंसे भ्रान्ति होनेका डर है। क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन पुनर्जन्मको मानता है पर अद्यतक मार्क्स और एंगेल्सके अनुयायी ऐसा नहीं मानते।

नित्य आत्मा हो या न हो पर जगत्में चेतनाका अनुभव तो होता ही है। चेतनाके दो लक्षण हैं, ज्ञान और इच्छा—स्वयं प्रभावित होना और प्रभावित करना : जहाँ चेतना है वहाँ किसी न किसी प्रकारका अन्तःकरण है। किसी न किसी प्रकार मन अहङ्कार और बुद्धिका क्षेत्र है। अन्तःकरणकी विकसित अवस्थामें उसके गुण, राग, द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर, काम, क्रोध औदार्य्य, दया, त्याग, प्रेम इत्यादि भी न्यूनाधिक पाये जाते हैं। प्रधानवादी इनमेंसे किसीकी भी सत्ताको अस्वीकार नहीं करता। वह केवल दो बातें कहता है। पहिली तो यह कि इनमेंसे कोई भी किसी नित्य आत्माका गुण नहीं है। दूसरी यह कि जैसे प्रधानके विकास द्वारा अनेक पदार्थों, जैसे सोना, तांबा, कोयलाकी उत्पत्ति हुई है वैसे ही अन्तःकरण और उसके गुणोंकी भी उत्पत्ति हुई है। पृथ्वी करोड़ों वर्षोंतक प्रज्वलित वाष्पोंका पिण्ड थी। उसके भी करोड़ों वर्ष पीछे वह इस योग्य हुई कि उसपर कोई प्राणी रह सके। जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई तब प्रधानसे अन्तःकरणकी भी अभिव्यक्ति हुई। ज्यों ज्यों परिस्थिति अनुकूल होती गयी त्यों त्यों अन्तःकरणकी अभिवृद्धि होती गयी। किसी भी सभ्य देशका शिक्षित व्यक्ति करोड़ों वर्षोंकी उन्नतिका दायाद है।

परिस्थितिके अनुसार ही अन्तःकरणके गुणोंका अभिव्यञ्जन होता है। जैसे परिस्थितिके अनुसार प्रधानसे कहीं हिमालय पहाड़ निकला है, कहीं प्रशान्त महासागर, कहीं आकाशगङ्गा

और कहीं ऋण विद्युत्कण, उसी प्रकार परिस्थितिके अनुसार कहीं क्रूरता व्यक्त होती है, कहीं उदारता, कहीं क्षमा और कहीं क्रोध। मनुष्य ऐसा समझता है कि मैं स्वतन्त्र हूँ, अपने संकल्पके अनुसार काम करता हूँ। यदि मेरी इच्छा होती है तो खड़ा होता हूँ, नहीं तो बैठा रहता हूँ। यहाँ तक तो ठीक हो सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि संकल्प करनेका स्वातन्त्र्य कहाँ तक है? मेरा ऐसा संकल्प हुआ इसलिये मैं खड़ा हुआ पर क्या मैं दूसरे प्रकारका संकल्प कर सकता था? क्या मेरे अन्तःकरणमें सिवाय खड़े होनेके कोई दूसरा संकल्प उठ भी सकता था? जो लोग नित्य आत्मा मानते हैं उनके लिए ऐसा मानना सम्भव है, यद्यपि उनमेंसे भी बहुतसे संकल्प-स्वातन्त्र्यको भगवदिच्छा या अदृष्ट या किस्मतसे बँधा मानते हैं। प्रधानवादी कहता है कि प्रधानकी समस्त सन्तति एक ही सूत्रमें बँधी है। जो द्वन्द्वात्मक विकास-क्रम परमाणुओं और पहाड़ोंकी गति-विधिका नियन्त्रण करता है वही कीटसे लेकर मनुष्यतकके अन्तःकरणका नियमन करता है। किसी समय-विशेषकी अवस्था जिन तत्त्वोंकी साम्यावस्था है उनमें मनुष्योंके अन्तःकरण भी हैं। परिस्थितिके अनुसार इस साम्यावस्थामें क्षोभ होगा अर्थात् इसके भौतिक और मानस दोनों प्रकारके अवयव क्षुब्ध होंगे। अन्तमें जो विपरिणाम उत्पन्न होगा, उसमें भौतिक और मानस दोनों प्रकारके तत्वोंकी नयी अवस्था होगी। पानीका विपरिणाम भाप और बर्फ दोनों हो सकता है। यह बाहरकी परिस्थितिपर निर्भर है कि किसी

काल और स्थान विशेषमें पानी किसमें परिणत होगा। ठीक इसी प्रकार परिस्थिति इसका निश्चय करती है कि अन्तःकरण कालान्तरमें कौनसा रूप धारण करेगा अर्थात् किस धर्म्मविशेपसे आच्छादित देख पड़ेगा। यदि स्वतन्त्र आत्माकी सत्ता होती तो उसके अपने स्वतन्त्र नियम होते परन्तु प्रधानके लिए तो एक ही नियम है।

जो नियम व्यष्टिके लिए है वही समष्टिके लिए लागू है। जो द्वन्द्वमान विकृतिप्रणाली भौतिक और व्यक्तियोंके मानस जगतको परिचालित करती है, उसीके अनुसार व्यक्तियांके समूहोंमें भी परिवर्तन होता है। आर्थिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक, सभी अवस्थाएँ इसी प्रणालीके अनुसार बदलती रहती हैं। लोग समझते हैं कि इतिहासका प्राङ्गण थोड़ेसे बड़े आदमियोंकी मनोवृत्तियोंका क्रीड़ाक्षेत्र है। ऋषि मुनि, धर्म्मप्रवर्तक, राजा, बादशाह, सेनापति, विद्वान्, नेता, बस इनके मनमें तरंगें उठती हैं और लाखों मनुष्योंके सुखदुःखका वारान्यारा हो जाता है। इसलिए इतिहासकी पोथियोंमें इन्हीं लोगोंके जीवन और कृत्योंका विस्तृत वर्णन रहता है, साधारण लोगोंका जिक्र यों ही गौण रूपसे आ जाता है।

प्रधानवादी ऐसा नहीं मानता। वह कहता है कि बड़े आदमी और आदमियोंके समूह द्वन्द्वमान प्रणालीके बाहर नहीं जा सकते। परिस्थितिके अनुसार उनमें भी परिवर्तन होता है। पर हाँ, जो पदार्थ जितना ही उन्नत होगा, उसके विकासको समझना

भी उतना ही कठिन होता है।

मानव समुदायोंके इतिहासपर किस परिस्थितिका प्रभाव पड़ता है? ऋतु, देशकी भौगोलिक बनावट, समीपस्थ वृक्ष और पशुपक्षी, इन सबका प्रभाव पड़ता है पर यह न्यूनाधिक स्थायी हैं। इनमें परिवर्तन होता भी है तो देरमें, अतः इनके प्रभावसे समूहका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिवर्तन प्रायः नहीं होता। मार्क्स और एंगेल्सका कहना है कि समुदायका सांस्कृतिक जीवन आर्थिक व्यवस्थापर निर्भर है और यह आर्थिक व्यवस्था उत्पादनविधिपर निर्भर है। यह इतिहाससिद्धान्त इन लोगोंका विशेष आविष्कार है। हठधर्मीके कारण बहुत लोग अभी इसे स्वीकार नहीं करते पर इसके सिवाय कोई दूसरा सिद्धान्त है भी नहीं जो इतिहासके परिवर्तनोंको वैज्ञानिक ढङ्गसे समझा सके।

प्रधानवादी यह नहीं कहता कि लोग प्रतिक्षण आर्थिक बातोंको सोचकर उनके अनुसार काम करते हैं। देश या मज़हब या इज्जतके लिए मर मिटनेवाले, पीड़ितोंकी सहायताके लिए अपने सर्वस्वकी आहुति देनेवाले, रुपयों या रोटियोंके लिए यह सब नहीं करते। प्रत्यक्षतया तो वह ऊँचे नैतिक भावोंसे प्रेरित होते हैं और प्रधानवादी ऐसे भावोंका समादर करता है। वह चाहता है कि लोगोंमें ऐसे भाव रहें। पर वह यह जानता है कि इन भावोंका उदय होना विशेष परिस्थितियोंपर ही निर्भर है। आज भारतमें जैसे देशसेवा, त्याग, आत्मबलिके

भाव फैल रहे हैं वह कुछ समय पहिले नहीं फैल सकते थे। जो लोग इन भावोंसे प्रभावित हो रहे हैं उनके सामने तो ऊँचे उद्देश्य और आदर्श हैं पर उद्देश्यों और आदर्शोंको विशेष आर्थिक परिस्थितियोंने ही सम्भव बनाया है। अन्तःकरणपर इन परिस्थितियोंका जो प्रभाव पड़ रहा है वही प्रशस्त उदार भावोंको जगा रहा है। यह प्रभाव ज्ञात नहीं है पर सत्य है।

ऊपर जो कुछ समासेन कहा गया है उसे इतिहासकी आर्थिक व्याख्या कहते हैं। इसमें इतिहासको बदलनेका श्रेय किसी अलौकिक व्यक्तिकी इच्छाको नहीं दिया गया है। यह भी नहीं कहा गया है कि ऐतिहासिक परिवर्त्तनोंकी प्रेरणा आर्थिक हेतुओंसे मिलती है।

यहाँपर एक प्रश्न यह उठता है कि जब ऐतिहासिक परिवर्तन इस प्रकार होते हैं तो क्या हमको पहलेसे उनका ज्ञान हो सकता है? इसका उत्तर हाँ भी है और नहीं भी। किसी समय-विशेषमें जो अवस्था होती है उसके अंगीभूत भौतिक पदार्थ—धातु, लकड़ी, परमाणु—या भौतिक शक्तियाँ—ताप, विद्युत्, प्रकाश इत्यादि—भी होते हैं और अन्तःकरण भी। भौतिक पदार्थों और शक्तियोंमें सजातीय समता होती है। एक टुकड़े सोनेका व्यवहार दूसरेसे भिन्न नहीं होता; प्रकाशके नियम सर्वत्र एकसे ही होते हैं। अतः किसी एक अवस्थाके पीछे इनकी क्या अवस्था होगी, यह कहा जा सकता है। परन्तु अन्तः-करणोंमें विषमता होती है। दावेके साथ यह नहीं कहा जा

सकता कि अमुक विशेष अन्तःकरण ठीक अमुक प्रकारसे व्यवहार करेगा। अन्तःकरण बाहरी परिस्थितिसे प्रभावित होता है पर उसको प्रभावित करता भी है। फिर अन्तकरण तो लाखों हैं। इसलिए वादको देखकर प्रतिवादके विषयमें यथार्थ भविष्य-द्वाणी नहीं की जा सकती।

इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ब्योरेवार भविष्यद्वाणी चाहे न की जा सके पर जो द्वन्द्वमान विकासक्रमको समझता है वह किसी अवस्था-विशेषका विश्लेषण करके यह समझ सकता है कि इसकी साम्यावस्था किस दिशामें भग्न होनेवाली है। वह उसके भीतरकी शक्तियोंकी गतिविधि और परिस्थिति-से यह अनुमान कर सकता है कि अब इनमेंसे कौनसी शक्तियाँ जागरित और उग्र होने जा रही हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वह प्रतिवादके स्वरूपका चित्र खींच सकता है।

इस सिद्धान्तकी यही सबसे बड़ी विशेषता है। अन्य सिद्धान्तोंके सत्यासत्यका निर्णय तर्कसे ही हो सकता है। वेदांत तर्कको तो नहीं मानता, 'तर्काप्रतिष्ठानात्,' पर अपनी सत्यताकी कसौटी स्वयवेद्य अनुभवको ठहराता है। परन्तु यह प्रधानवाद अपनी सत्यताकी परीक्षा व्यवहारसे करता है। इसमें 'सिद्धान्त और व्यवहारकी एकता' पर विशेष प्रकारसे जोर दिया जाता है। अपनी बुद्धिसे केवल तर्कके आधारपर सिद्धान्तका आविष्कार करनेके बदले जगत्के व्यवहारका वैज्ञानिक अनु-शीलन करके सिद्धान्त स्थिर करना चाहिये और फिर इस

सिद्धान्तसे जगद्व्यापार चलाना चाहिये। साधारण सुधारक उचित-अनुचित, न्याय-अन्यायकी कसौटीपर कसकर जो बात ठीक जचती है उसे कार्य्यमें परिणत करना चाहता है। प्रधान-वादी ऐसा नहीं करता। वह वैज्ञानिक शैलीसे चलता है। जिस प्रकार विज्ञानवेत्ता प्राकृतिक नियमोंको समझकर उनके अनुसार काम करता है और लाभ उठाता है, उसी प्रकार द्वन्द्वमान प्राधानवादका विद्यार्थी परिस्थितिका अध्ययन करके देखता है कि परिस्थिति स्वयं किधर झुकनेवाली है। उसी दिशामें प्रयत्न करता है। जो शक्तियाँ दबनेवाली हैं उनको दबाकर जो प्रदीप्त होनेवाली हैं उनके जागरणमें सहायता है। अतः जो प्रतिवाद प्रकृत्या देरमें आता उसे जल्द ही स्थापित करा देता है। यहीं उद्योगकी उपयुक्तता सिद्ध होती है, अन्यथा द्वन्द्वमान विकास तो स्वतः होता ही रहेगा।

इसी सिद्धान्तके आधारपर समाजवादका राजसम्बन्धी सिद्धान्त स्थिर है। समाजवादी कहता है कि दार्शनिक शब्दा-डम्बरको छोड़कर देखनेसे प्रतीत होता है कि प्रत्येक समाजमें शासनका सूत्र उस वर्गके ❀ हाथमें होता है जिसको उत्पादनके साधनोंपर स्वाम्य प्राप्त होता है। जिस समय उत्पादनका मुख्य साधन भूमि थी उस समय शासन भूमिपतियोंके हाथमें था। आज उत्पादनका मुख्य साधन व्यवसाय है, इसलिये शासनकी नकेल पूंजीपतियोंके हाथमें है। जिस समय किसी वर्गके हाथमें हुकूमतकी बागडोर होती है उस समय वह

ऐसा प्रयत्न करता है कि उसके हाथसे अधिकार निकल न जाय। इसलिये वह दूसरे वर्गोंको बराबर दबाता है। उसके बनाये क़ानूनोंका यही उद्देश्य होता है। समाजवादीपर यह आरोप किया जाता है कि वह वर्गविद्वेषको बढ़ाता है। जमीन-दारको किसानसे, मजदूरको मिल मालिकसे लड़ता है। यह आरोप ग़लत है। समाजवादी चाहता है कि वर्गकलह मिट जाय, समाजमें परस्पर विरोधी हितोंवाले वर्गोंका अस्तित्व ही न रह जाय, समाज वर्गहीन हो जाय। उसके सारे प्रयास इसी लक्ष्यकी सिद्धिके लिये होते हैं। राजके प्रति अपने व्यवहारको निश्चित करनेमें भी वह इसी लक्ष्यको सामने रखता है।

समाजवादकी राजके प्रति जो नीति है वह नीचेके अव-तरणसे जो मेरे 'साम्राजवाद' से लिया गया है स्पष्ट हो जायगी—

जैसा कि हम देख चुके हैं राज वह संस्था है जिसके द्वारा अधिकार-प्राप्त वर्ग दूसरे वर्गोंपर अपना अधिकार कायम रखता है। सेना और पुलिसके द्वारा यह संस्था काम करती है। यदि कोई विरोधी सिर उठाता है तो वह इसके बलसे दबा दिया जाता है। अधिकारयुक्त वर्गका तीसरा अस्त्र कानून वर्गसंघर्षकी बीभत्सताको यथासम्भव छिपाता है। उसका काम यह है कि शोषित वर्गके जीवनको नित्यप्रति ऐसे बन्धनोंसे जकड़ रखे कि सेना से काम न लेना पड़े। हर सरकार कानून और अमनकी दुहाई देती है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु-स्थितिमें कोई गहरा परिवर्त्तन न हो। जो हुकूमत करता है

वह हुकूमत करता रहे, जो दास है वह दास बना रहे। इसके बिना थोड़ेसे मनुष्य बहुतसे मनुष्योंको दबाकर रख नहीं सकते।

राजका यह स्वरूप ऐसे शब्दाडम्बरसे छिपाया जाता है कि साधारण मनुष्य सचमुच उसको एक निष्पक्ष संस्था समझता है और उससे निरपेक्ष न्यायकी आशा रखता है। पर जब उत्पादनके साधनोंका रूप बदलता है और उन साधनोंसे काम लेनेवाला दूसरा वर्ग ऊपर उठना चाहता है तो उसे राजके सच्चे स्वरूपका बहुत ही शीघ्र बोध हो जाता है। उसको यह विदित हो जाता है कि राज वस्तुतः उस वर्गकी एक प्रकारकी कार्य्य-कारिणी समिति है जिसके हाथमें अबतक आर्थिक और राज-नीतिक अधिकार रहा है। नया वर्ग अपने लिए सुविधाए चाहता है पर पुराना वर्ग अपनी अर्थात् राजकी सारी शक्तिसे इन सुविधाओंको रोकता है क्योंकि वह समझता है कि यदि नया वर्ग सम्पन्न हुआ तो वह सारे अधिकार अपने हाथ में ले लेगा। इस प्रकार वर्गसंघर्ष, जो अबतक मन्द और आलीन था, तीव्र और प्रकट हो उठता है। नये उठनेवाले वर्गको यह बात साफ देख पड़ती है कि यदि उसे आगे बढ़ना है तो फिर राज-पर कब्जा करना चाहिये, विदेशियोंसे लड़नेके लिए नहीं अपने घरेलू प्रतियोगियोंसे लड़नेके लिए। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' राजपर कब्जा करनेका अर्थ है सेना और पुलिसपर कब्जा करना अर्थात् इनसे काम ले सकना। इसका दूसरा अर्थ है कानून बनानेकी शक्ति प्राप्त करना। आर्थिक और सामाजिक

अभ्युदयकी लालसाने ही मध्यमवर्गको सामन्त-सर्दारोंके हाथसे राजयन्त्र छीननेपर विवश किया था। राजशक्तिको हाथमें लेते ही मध्यम वर्ग सामन्तोंकी कुर्सीपर जा बैठा था। जो अबतक शोपित था वह शोपक बन गया। जिस प्रकार पहले थोड़ेसे क्षत्रियवर्गीय अपनेसे अधिक संख्यावालोंपर हुकूमत करते थे, उसी प्रकार पूँजीशाही और साम्राज्यशाहीके द्वारा थोड़ेसे मध्यवर्गीय करोड़ों मनुष्योंपर हुकूमत कर रहे हैं अर्थात् करोड़ों मनुष्योंका शोपण कर रहे हैं।

ऐसी दशामें राज्यके प्रति समाजवादीका क्या रुख हो सकता है ? यह तो हम देख चुके हैं कि वह वर्ग संघर्षको बहुत बुरी चीज समझता है। हम यह भी देख चुके हैं कि वह उत्पादनके साधनोंपर व्यक्तियोंके निजी स्वत्वको बुरी चीज मानता है और पृथ्वीपर फैली हुई अशान्तिका प्रधान कारण समझता है। उसकी रायमें जबतक यह वैयक्तिक स्वत्व रहेगा तबतक पृथ्वी-पर पूँजीशाही, साम्राज्यशाही, वर्गसंघर्ष और अन्ताराष्ट्रीय युद्ध आजकी भाँति बने रहेंगे और आकाश-पुष्पकी भाँति शान्तिका अभाव रहेगा। वह यह भी देखता है कि सम्पति राज पूँजी-पतियोंके हाथमें है और उस वर्गको दबानेमें अपनी सारी शक्ति लगा रहा है जो पूँजीपतियोंके हाथसे उत्पीड़ित और शोषित होनेसे ऊबकर अब सिर उठाना चाहता है। यह वर्ग श्रमिकों और कृपकोंका वर्ग है। यह बातें एक और ही पाठ पढ़ाती हैं। यदि समाजवादी सचमुच पूँजीशाहीको मिटाना चाहता है

तो उसको वही काम करना होगा जो इसके पहले पूँजीपतियोंने किया था। उसको राजपर कब्जा करना होगा। राजकी लगाम उसके हाथमें आते ही सरकार उसकी होगी, सेना और पुलिस उसकी आज्ञाओंका पालन करेंगी, अपनी इच्छाके अनुकूल कानून वह बनवा सकेगा।

ऊपर मैंने लिखा है कि समाजवादीको राजपर कब्जा करना होगा। वस्तुतः यह निरर्थक-सा वाक्य है। समाजवाद एक सिद्धान्त है। उसको माननेवालोंका कोई विशेष आर्थिक वर्ग नहीं होता। मेरा असली तात्पर्य्य यह था कि जो आजकलका प्रताड़ित वर्ग है, अर्थात् शरीर और मस्तिष्कसे काम करनेवाले श्रमिकों और कृषकोंका वर्ग, उसको राजकी बाग सँभालनी होगी। जबतक राजशक्ति अपनी नहीं होती तबतक पूँजीशाही-का बाल बाँका नहीं हो सकता, समाजवाद केवल पुस्तकोंके पन्नोंमें ही धरा रह जायगा। आर्थिक और सामाजिक अभ्यु-दयकी इच्छाने ही शोषितोंको सिखलाया है कि उन्हें हुकूमत करनी होगी। मूसाकी बाबत कहा जाता है कि वह आग ढूँढ़ने गये थे, पैगम्बर हो गये। इसी प्रकार वर्गोंका अभ्युत्थान होता है।

मान लिया जाय कि सफल क्रान्तिके द्वारा अद्यावधि-शोषित श्रमिक और कृषकवर्गने राजपर कब्जा प्राप्त कर लिया। फिर क्या होगा? जो उत्तर पहले मुँहको आता है वह तो यही है कि इस बार भी वही होगा जो अबतक होता आया है अर्थात्

अपने क्रांतिकालीन नारोंको भूलकर यह वर्ग भी राजसे अपने संकुचित वर्गहितोंके साधनका काम लेगा। भेद इतना है कि अबतक यह शोषित था, अब यह शोषक होगा और दूसरे वर्ग शोषित होंगे।

पर यह उत्तर ठीक नहीं है। पहले तो इस वर्गके कोई संकुचित वर्गहित हैं ही नहीं। यह तो शोषणसे व्यथित होकर उठा था अतः इसका एक ही उद्देश्य है और वह है शोषणको मिटा देना। जिन समाजवादी सिद्धान्तोंकी प्रेरणाने इसको प्राणित किया है उनका भी यही परिणाम हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यह वर्ग इस समय सबसे नीचा है। इसमें वह लोग हैं जो उत्पादनकी किसी सामग्रीके स्वामी नहीं हैं। इनकी जीविका दूसरोंकी कृपापर निर्भर है। अतः अब यह किसको सतायेगा? इसके उत्तरमें स्यात् यह कहा जायगा कि जो आजकल शोषक हैं वही भविष्यमें शोषित हो जायंगे। पर ऐसा नहीं हो सकता। इस समय शोषकोंकी संख्या थोड़ी है परन्तु शोषितोंकी संख्या बहुत बड़ी है। मुट्ठीभर पूँजीपति प्रायः सारी जनताको कामधेनु बनाकर दूह रहे हैं। क्रान्तिके बाद तो यही जनता अधिकारमें होगी पर यह आजके पूँजीपतियोंका शोषण नहीं कर सकती। थोड़ेसे आदमी बहुतोंका शोषण कर सकते हैं, बहुतसे आदमी थोड़ोंका शोषण नहीं कर सकते। दो चार शेर मिलकर जङ्गलके और पशुओंका शोषण कर सकते हैं पर यदि सारे पशु मिल जायँ और शेरोंको वशमें करके उनका शोषण

करना चाहें तो नहीं कर सकते। दो दिन में शेर खत्म हो जायँगे। थोड़ोंके आहार बहुत हो सकते हैं, बहुतोंके लिए यह सम्भव नहीं कि थोड़ोंको आहार बनाकर कुछ दिनतक अपना पेट भरें। अतः मजदूर और कृषक वर्गके हाथमें राजशक्ति आ जाने पर शोषण बन्द हो जायगा। इसका अर्थ यह है कि राज शोषणका साधन न रह जायगा। पर अबतक तो यही उसका प्रधान लक्षण है कि वर्गसंघर्षमय इस जगत्में राज एक वर्गको दूसरेका शोषण करनेमें सहायता देता है। अब यह पहली बात न होगी। सेना पुलिस और कानून बनानेका अधिकार होते हुए भी इनका उपयोग पुराने ढंगपर न होगा। पुराने रूपका अन्त हो जायगा।

इस प्रकार श्रमिकों और कृषकोंके हाथमें अधिकार आनेपर यह संस्था जो आजसे हजारों वर्ष पहले शोषणको सुव्यवस्थित, चिरायु और सफल बनानेके लिये स्थापित हुई थी और जो आजतक इस कामको करती आयी है स्थानच्युत हो जायगी। अपने असली स्वरूपको खोकर राज राज न रह जायगा। पर उसका ढाँचा बहुत दिनोंतक रहेगा। समाजवादी न तो फौज या पुलिसको बर्खास्त कर देंगे, न कानून बनवाना छोड़ देंगे। उनके सामने अभी तो बहुत काम पड़ा होगा जिसमें इन साधनोंसे सहायता मिलेगी।

समाजवादियोंका उद्देश्य वर्गसंघर्षको मिटाकर वर्गहीन समाजको जन्म देना है। वह यह भी चाहते हैं कि मनुष्य

द्वारा मनुष्यका शोषण न हो। पर यह बातें संकल्पमात्र से न होंगी। कृषकों और श्रमिकोंके हाथमें शासन आ जाने मात्रसे भी न होंगी। जो लोग अबतक शोषणकी बदौलत पलते रहे हैं वह एकदम चुप नहीं बैठ सकते। यदि सम्भव हुआ तो वह विदेशियोंको अपनी सहायता के लिये ले आयेंगे। फ्रेंच क्रांतिके बाद फ्रांसके राजवंश और सर्दारोंकी ओरसे ब्रिटेन, जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया शत्रु हो गये थे। हालमें रूसी क्रांतिके बाद रूसको चार वर्षतक रूसी विद्रोहियों और उनके विदेशी हिमायतियोंका मुकाबिला करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त देशके भीतर भी नये अधिकारियोंको पदे पदे पुराने स्वार्थोंसे लड़ना होगा। उनके हर काममें अड़चन डाली जायगी। हर प्रकारके ऐसे प्रयत्न किये जायँगे जिनसे उनके शासनकी व्यवस्था बिगड़ जाय, उनके प्रयोग असफल हों, प्रजा उनसे असन्तुष्ट हो। उनके साथ बात बातमें असहयोग किया जायगा। उनकी अनुभव-हीनतासे हर प्रकारका अनुचित लाभ उठानेकी चेष्टा की जायगी। बिना इस प्रकारके कुयत्नोंको असफल बनाये क्रान्ति विफल हो जायगी। रूसकी क्रान्तिकारी सरकारको यह सब दिक्कतें भुगतनी पड़ी हैं। यदि नये शासक दृढ़प्रतिज्ञ हैं तो वह इस विपत्तिसागरको भी पार कर जायँगे और क्षुद्र स्वार्थियोंको मुँहकी खानी पड़ेगी। उनकी सारी कोशिशें विफल होंगी और वर्गभेद मिटकर रहेगा। इस काममें नये शासकोंको राजके ढाँचेसे अर्थात् सेना, पुलिस और

कानूनसे बड़ी सहायता मिलेगी। जो शस्त्र शोषणको क़ायम रखनेके लिए निकाला गया था वह यदि अच्छे हाथोंमें पड़ जाय तो उससे शोषणका अन्त करनेका काम लिया जा सकता है। इसलिए समाजवादी श्रमिक और कृषक राजके ढाँचेको एकदम बिगाड़ न देंगे।

इस ढाँचेकी सहायतासे उनको अपना मूल उद्देश्य; अर्थात् समाजवादी व्यवस्था और वर्गहीन समाजका संस्थापन, सिद्ध करना होगा। पुराने शोषकवर्गके विरोधकी कमर टूट जाने पर जो लोग उस वर्गमें थे या उससे सम्बन्ध रखते थे वह भी श्रमकी महत्ताको स्वीकार कर लेंगे। और अपनी शक्ति तथा योग्यताके अनुसार काममें लग जायंगे। ऐसा होने पर समाजसे वर्गभेद, अथवा वर्गसंघर्ष. मिट जायगा। दूसरी ओर उत्पादनके साधनोंपर समुदायका अधिकार हो जायगा। जो युवक और युवती इस नये युगमें शिक्षा पाकर प्रौढ़ जीवनमें क़दम रखेंगे, उनके लिए रुपया जोड़ना और रुपयेके लिए काम करना एक अस्वाभाविक-सी बात प्रतीत होगी। वह लोकहितको सामने रखकर काम करेंगे और समाजकी समृद्धिमें शरीक होना अपना सबसे बड़ा पुरस्कार समझेंगे। इस परिस्थितिमें समाजवादी व्यवस्था आप ही स्थापित हो चलेगी। पर यह समझ रखना चाहिये कि अकेला कोई एक देश पूर्णरूपेण समाजवादी पद्धति नहीं चला सकता। अस्तु, जिस दिन यह व्यवस्था पूरी तरह स्थापित हो जायगी उस दिन राज अनावश्यक हो

जायगा। न क़ानून बनानेकी आवश्यकता रह जायगी, न सेना-की, न पुलिसकी। राजका ढाँचा व्यर्थका भार होगा और आप ही टूट जायगा। एंगेल्सके शब्दोंमें राज मुरझाकर झड़ जायगा। वह दिन आज नहीं है, पर आ सकता है और प्रत्येक समाज-वादी ऐसी आशा करता है कि आयेगा। उस समय भी कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो सामूहिक जीवनको खराब करना चाहे। लोकमत उसको सुधारने और यदि जरूरत हो तो दण्ड देनेके लिए काफ़ी होगा। समुदायकी आत्मरक्षाप्रवृत्ति वेतन-भोगी सेनाओंकी अपेक्षा रक्षाका अच्छा आयोजन कर सकती है क्योंकि यह रक्षा किसी एक वर्गके हितोंकी रक्षा नहीं वरन् सबकी रक्षा होगी।

इस सम्बन्धमें एंगेल्सके नीचे लिखे वाक्य इस सारे कथन का निचोड़ देते हैं—"सर्वाहारी वर्ग राजशक्तिपर क़ब्ज़ा करता है और उत्पादनके साधनोंको राजसम्पत्तिमें बदल देता है पर ऐसा कर लेनेपर वह खुद सर्वहारा नहीं रह जाता, सारे वर्ग-भेद और वर्गविरोध खतम हो जाते हैं और राजरूपसे राजका भी अस्तित्व खतम हो जाता है। पुराने समाजको, जिसका जीवन वर्गसंघर्षमें बीतता था, राजकी अर्थात् शोषकवर्गके संघ-टनकी आवश्यकता थी ताकि उत्पादनकी तत्कालीन अवस्था कायम रहे; अतः उसको राजकी विशेष जरूरत इसलिए थी कि शोषितवर्ग (जो समय समयपर गुलाम, जमीनके साथ बँधा किसान या मजदूरका रूप धारण करता रहता है) बलात्

दबाया जा सके। ऊपरसे तो राज सारे समाजका प्रतिनिधि था। जब राज सचमुच सारे समाजका प्रतिनिधि हो जायगा तो वह अनावश्यक हो जायगा। जब कोई ऐसा वर्ग नहीं रह जाता जिसको दबाना हो, जब वर्ग-आधिपत्य और पहिलेकी उत्पादन-सम्बन्धी कुव्यवस्थासे उत्पन्न वैयक्तिक जीवनके लिये संघर्षके साथ साथ आपसके झगड़े और अत्याचार खतम हो जायँगे तो ऐसी कोई चीज ही न रह जायगी जिसका शमन करना हो और विशेष दमनकारी शक्ति अर्थात् राजकी जरूरत न रहेगी। जो पहिला काम सारे समाजके प्रतिनिधिके रूपमें राज करता है—अर्थात् सारे समाजके नामपर उत्पादनके साधनोंपर कब्जा करना—वही राजकी हैसियतसे उसका अन्तिम स्वतंत्र काम है। क्रमशः सामाजिक सम्बन्धके विभिन्न क्षेत्रोंमें राजका हस्तक्षेप अनावश्यक हो जाता है और फिर आप ही आलीन हो जाता है। व्यक्तियोंपर शासन करनेके स्थानमें वस्तुओंकी व्यवस्था और उत्पादनकी क्रियाओंका संचालन रह जाता है। राजको कोई खतम नहीं करता, वह खुद मुरझाकर झड़ जाता है।"

जहाँतक मार्क्स और एंगेल्सके आध्यात्मिक सिद्धान्तकी बात है वह इस पुस्तकका विषय नहीं है। विकासकी जो विधि उन्होंने दिखलायी है वह मुझको ठीक प्रतीत होती है। मैं यह नहीं मान सकता कि जगत्का मूल पदार्थ जड़ था, जिसमेंसे किसी अवस्थामें चेतना प्रादुर्भूत हुई। मैं स्वयं

शांकर अद्वैत मतको मानता हूँ। इस मतके अनुसार एक सत्‌चित् ब्रह्म पदार्थ मायाके द्वारा जगत् रूपमें प्रतीत होता है। परन्तु प्रतीतिके क्षेत्रमे विकास न्यूनाधिक उसी प्रकार हुआ होगा जैसे उन्होंने बतलाया है। पर इस शास्त्रार्थमें पड़नेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। इतिहासकी आर्थिक व्याख्याके सम्बन्धमें भी यही बात है। जो मनुष्य चेतनकी सत्ताको नित्य मानता है वह यह भी मानेगा कि ऐतिहासिक उथल-पुथलमें आर्थिक परिस्थितियोंके साथ-साथ चेतनाके स्वतन्त्र धर्म्म भी काम करते है। बुद्धिपर बाहरी परिस्थितियोंका गहिरा प्रभाव पड़ता है पर वह मनुष्यकी वास्तविक सत्ता—उसके चेतन स्व, अहम्—का धर्म्म है, इसलिये केवल आर्थिक कारणोंसे व्यक्ति या वर्ग या समाजको प्रेरणा नहीं मिलती। इतना कहते हुए भी यह बोध होता है कि इस समाजवादी सिद्धान्तके सिवाय किसी दूसरे सिद्धान्तने ऐतिहासिक द्विविषयोंकी व्याख्या करनेमें सफलता नहीं पायी है। यदि इसका थोड़ासा शोधन होकर इसमें चेतन आत्माके धर्म्मोंके लिये भी स्थल निकल आये तो यह अकाट्य हो जायगा।

समाजवादीका राजविषयक मत किसी काल्पनिक आध्यात्मिक तथ्यपर नहीं वरन् मनुष्यके कटु अनुभवपर निर्धारित है। बुखारिन कहते हैं और ठीक ही कहते हैं कि 'वर्ग मूलक समाजके अङ्ग एक दूसरेसे निरन्तर, कभी-कभी बहुत ही उग्र, संघर्षमें लगे रहते हैं। ऐसे ही समाजमें राज और कानूनकी

उत्पत्ति होती है।' यह संघर्ष कभी तो समझ-बूझकर होता है, कभी अस्फुट रहता है। जमीनदार और किसानका हित एक नहीं हो सकता। दोनोंके हित टकराते रहते हैं। पर प्रायः खुलकर झगड़ा नहीं होता। जब कभी सहनशीलताका प्याला भर जाता है तो फिर खुला विद्रोह होता है। कहनेको तो यह कहा जा सकता है कि धनिक लोग अपनेको निर्धनोंका अभिभावक समझें, धन एकत्र करें पर यह समझकर कि यह मेरा नहीं समाजका है। सुननेमें यह बात भली लगती है, सम्भव है कोई-कोई व्यवसायी इस भावसे प्रेरित होकर आचरण भी कर जाय पर ऐसा कोई भी समय नहीं देखा गया जब सब या अधिकांश धनिकोंने इसे अपनाया हो अतः संघर्ष तबतक रहेगा जबतक आर्थिक वर्ग रहेंगे, आर्थिक वर्ग तभी मिटेंगे जब उत्पादनके साधनोंका स्वाम्य व्यक्तियोंके हाथसे निकलकर समाजके हाथोंमें आ जाय। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक एक वर्ग सम्पन्न रहेगा, वह शासनका सूत्र अपने हाथमें रखेगा, ऐसे-ऐसे क़ानून बनायेगा, ऐसी आज्ञाएँ निकालेगा, जिनसे उसके स्वत्वोंकी रक्षा हो। जो असम्पन्न हैं उनके सामने टुकड़े फेंके जायेंगे ताकि वह अधीर न हो उठें। उनको यह समझाया जायगा कि इस परिस्थितिके बने रहनेमें उनका, सबका, कल्याण है। पूँजीवादी देशोंके लाखों होनहार युवक साम्राज्यशाही युद्धोंमें अपने प्राण देते हैं। परिणाम इतना ही होता है कि उनके पूँजीपति स्वामियोंके जेब और गरम होते हैं।

समाजवादी इस अवस्थाको अनुचित मानता है। अतः वह आवश्यकता पड़ने और अवसर अनुकूल होनेपर विद्रोह करनेका पक्षपाती है। जब वह राजको अपने प्रपीड़कोंका गुट मानता है तो फिर वह उसके कामोंकी जिम्मेदारी अपने ऊपर ओढ़नेको तैयार नहीं हो सकता। हां जो राज किसी वर्गविशेषका प्रतिनिधि न हो, कमसे कम जो किसी शोषकवर्गका प्रतिनिधि न हो, उसको वह अपना राज मान सकता है। जबतक राज-सत्ताका अन्त नहीं होता तबतक उसकी आज्ञाएं माननी होंगी, इसलिये नहीं कि राजकी कोई आध्यात्मिक सत्ता है और उसके कोई ऐसे हित हैं जो व्यक्तिके हितोंसे ऊपर और पृथक् हैं; वरन् इसलिये कि वह व्यक्तिके हितोंके साधनका प्रबल उपकरण है। जबतक राज है तबतक उसका यह कर्त्तव्य है कि ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करें जिनमें व्यक्ति अपने नैसर्गिक गुणोंका पूरा-पूरा विकास कर सके। इसका अर्थ यह हुआ कि राजका अस्तित्व व्यक्तिके लिये है, व्यक्तिका अस्तित्व राजके लिये नहीं है। राजाज्ञाका पालन करना धार्म्मिक कृत्य नहीं बुद्धिकी सीख है।

नोट—बुखारिनके जो वाक्य उद्धृत किये गये हैं वह उनकी पुस्तक हिस्टॉरिकल मेटीरियलिज्मसे लिये गये हैं।

*बुखारिनके अनुसार उन लोगोंके समुदायको 'वर्ग' कहते हैं जो उत्पादनकी क्रियामें एकही प्रकारका काम करते हैं।

†इस अवतरणमें उस शोषित वर्गके लिये जो भविष्यत्‌में समाजवादी व्यवस्था कायम करेगा 'सर्वहारा' शब्दका प्रयोग किया गया है। यह शब्द सबसे पहिले बंगलामें प्रयुक्त हुआ। सर्वहारा उसको कहते हैं जिसके पास शरीर और मस्तिष्कके सिवाय उत्पादनका और कोई साधन नहीं है।

४

फ़ासिस्टवाद और नात्सीवाद

फ़ासिस्टवादका उदय इटली और नात्सीवादका जर्मनीमें हुआ। दोनोंका इतिहास मिलता जुलता है। पिछले महायुद्धके बाद पराजित जर्मनी तबाह हो रहा था। उसकी शक्ति क्षीण हो गयी थी, उपनिवेश छिन गये थे, आर्थिक संकट था, लोगोंके आत्माभिमानको गहिरी ठेस लगी थी। सर्कार परिस्थितिको सँभालनेमें असमर्थ थी। यूरोपके विजयी राज्योंने जर्मनीको युद्धके लिये दायी ठहरा कर उसे यूरोपका अछूत सा बना दिया था। इसी परिस्थितिने हिटलरको अवसर दिया। उन्होंने जर्मनीको संभाला, यह घोषित किया कि वह युद्धके लिये दायी नहीं था, उसके सैनिक बलको बढ़ाया, जर्मन जनताके सुषुप्त आत्मसम्मानको जगाया। प्रायः यही अवस्था इटलीमें थी। विजेताओंकी गणनामें होता हुआ भी इटली असन्तुष्ट था। उसने अपने मित्र जर्मनीके साथ विश्वासघात करके ब्रिटेन और फ्रांसका साथ दिया था पर इसका पुरस्कार उसको बहुत

कम मिला। लूटका माल दूसरोंके हाथ लगा। लोगोंकी आर्थिक दशा बिगड़ गयी, आत्म-विश्वास उठ गया, अशान्ति फैल गयी। सर्कार स्थिति न संभाल सकी। ऐसी दशामें मुसोलिनी राजनीतिक रंग-मंच पर आये और इटलीको महाशक्ति बनानेमें समर्थ हुए।

उस प्रारम्भिक कालमें इन दोनों नेताओंके पास कोई 'वाद', किसी प्रकारका दार्शनिक सिद्धान्त नहीं था। इन्होंने अपने-अपने देशकी राष्ट्रीय-भावनाओंसे काम लिया। राष्ट्र उठनेके लिये तैयार था, उसे पथ-प्रदर्शककी खोज थी। आज भी यह दोनों वाद दार्शनिक सिद्धान्त नहीं बने हैं। इनका मूल मंत्र है राष्ट्रीयता। चाहे जो हो, हमारे राष्ट्रकी उन्नति होनी चाहिये। हमको कच्चा माल और बाजार मिलने चाहियें, हमारी बढ़ती जन-संख्याके लिये भूमि मिलनी चाहिये। हमारे हाथमें जो शक्ति है वही हमारे पक्षको न्याय्य बनाती है। न्यायका अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ प्रमाण बल है। जो शक्ति-शाली राष्ट्र है वह इसी आधार पर काम करता है।

जो लोग ऐसे भाव रखते हैं वह अन्ताराष्ट्रीयताके बड़े पक्षपाती नहीं हो सकते। समाजवाद जैसे सार्वभौम सिद्धान्तसे तो उनका सहज विरोध है। इसलिये वह दूसरे देशोंके निवासियोंको शिक्षा देनेका प्रयत्न नहीं करते। सबको अपनी अपनी शक्ति और परिस्थितिके अनुसार काम करना है। मुसोलिनीने एकबार कहा था 'फांसिज्म ऐसा माल नहीं है जिसे हम दूसरे

देशोंमें भेजना चाहते हों।

जहाँ राजका यह उद्देश्य होगा वहाँ व्यक्तिसे जिस आचरणकी आशाकी जायगी वह स्पष्ट ही है। उसको राजके चरणों पर अपना सर्वस्व अर्पण करना होगा। उसका जो कुछ है वह राजका है। राजके सुखमें उसका सुख है, राजके दुःखमें उसका दुःख है, वह राजके लिये जीता है, राजके लिये मरता है। इस बातमें फासिज्म और नात्सिज्म आदर्शवादके दृष्टिकोणको स्वीकार करते हैं।

इतनी समता होते हुए भी कुछ बातोंमें अन्तर है। जर्मनीमें दार्शनिकता पहिलेसे ही थी, आज भी है, अतः नात्सीवादका रूप किंचित् अधिक दार्शनिक है। उसमें आदर्शवादसे काफी सहायता ली गयी है। जर्मन राष्ट्रका प्रधान नेता 'फ्यूएहरर' राष्ट्रकी—राजकी—आत्माका प्रतीक है, मूर्त राज है। अतः वह उस आज्ञाकारिताका पात्र है जो व्यक्तिसे राजको मिलना चाहिये। उसका अनुशासन अबाध है। जर्मनीमें एक बात और बढ़ा दी गयी है। यह है 'उपजातिवाद।' यह तो विद्वानोंने माना है कि मनुष्य कई मुख्य उपजातियोंमें बँटा हुआ था, जैसे आर्य्य उपजाति, सेमेटिक उपजाति, मंगोल उपजाति। उपजातियोंका यह विभेद कब हुआ और कैसे हुआ इस विषयमें मतभेद है। यह भी ठीक है कि सभ्यता और संस्कृतिके इतिहासमें आर्य्य उपजातिका स्थान बहुत ऊँचा रहा है। भारत, ईरान, मिश्र, यूनान, रोम सभी आर्य्यों के यशोगान गा रहे हैं। आज भी जो देश पृथ्वीपर गण्यमान्य

हैं उनमें प्रधानता उनको ही है जिनके निवासी मुख्यतया आर्य्य माने जाते हैं। जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, सभी आर्य्य देश हैं। पर संकरता भी इतना हो गयी है कि किसी व्यक्तिकी बाबत यह निश्चयरूपेण नहीं कहा जा सकता कि इसके शरीरमें शुद्ध आर्य्य या मंगोल या सेमेटिक खून दौड़ रहा है। परन्तु जर्मनोंको आज यह बतलाया जा रहा है कि वह लोग आर्य्योंकी श्रेष्ठ-तम शाखा नार्डिकमें उत्पन्न हुए हैं, उनकी संस्कृति और सभ्यता आर्य्य संस्कृति और सभ्यताका उत्कृष्टतम उदाहरण है, उसको अमिश्रित और शुद्ध रखना उनका पवित्र कर्तव्य है। अतः जर्मन राजमें जर्मनीकी आर्य्य उपजातिकी आत्मा अभिव्यक्त हो रही है। यह 'उपजाति वाद' जर्मनीकी अपनी उपज है। इससे राजके प्रति अन्ध श्रद्धा और भी बढ़ जाती है क्योंकि राजके रूपमें अपनी उपजाति, अपना खून, अपना सहस्रों वर्षका इतिहास मूर्त हो रहा है। इस भावसे शासकोंको बड़ी सहायता मिलती है परन्तु इसके द्वारा अनार्य्य कहलानेवालों पर जो अत्याचार ढाया गया है उसका साक्षी आधुनिक कालका इतिहास है। ऐसी निराधार भावनाको जगाना जगत्में शान्तिका उन्मूलन करना है। राजको किसी एक कल्पित उपजातिविशेषके साथ मिला देना भयानक नीति है।

एक और विचारधारा है जो जर्मनीमें काम कर रही है। उसका प्रभाव नात्सीवादपर भी पड़ा है। वह है नेत्शेका 'अति-पुरुष वाद।' नेत्शेका कहना है कि धर्म्म, समाज, सदाचार,

नीति आदिके बन्धन साधारण मनुष्योंके लिये हैं। जो उत्कृष्ट कोटिके लोग हैं वह इनकी परवाह नहीं करते। वह अपने सहज गुणोंके जोरसे इन दुर्बल रस्सियोंको तोड़कर ऊपर उठते हैं। जिसमें ऐसा व्यक्तित्व हो उसका कर्तव्य है कि उसको विकास दे। ऐसा मनुष्य अतिपुरुष है। छोटे मनुष्य झक मारेंगे उसकी आज्ञापर चलेंगे। वह जो कहेगा वही नीति होगी, वही आचार होगा, वही क़ानून होगा। भवभूतिके शब्दोंमें—

'उदयति दिशि यस्याम् भानुमत् सैव पूर्वा,
नहि तरणि रुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः।'

[सूर्य्य किसी दिशाका दास नहीं है। वह जिधर उदय होगा लोग उसीको पूर्व कहेंगे]

सभ्यताकी पराकाष्ठा बहुसंख्यक लोगोंके साधारणतया सुखी और सम्पन्न रहनेसे नहीं, वरन् इन थोड़ेसे अतिपुरुषोंके असाधारण विभूति प्राप्त करनेसे होती है।

जो लोग किसी देशमें फ्यूएहरर, अधिनायक, एकतंत्रनेता होनेकी महत्त्वाकांक्षा रखते हैं उनको इस वादसे सहायता मिलती है। उनकी उच्छृंखलता पर दार्शनिक गिलाफ चढ़ जाता है। पर समाजके लिये तो इससे जो स्थिति उत्पन्न होती है वह भयावह है। इसको मान लेनेसे राजमें व्याघ्र-बकरीके संगठन जैसी व्यवस्था हो जायगी।

———

५

अफ़लातूनका मत

प्राचीन यूनानके दार्शनिकोंमें अफ़लातूनका स्थान बहुत ऊँचा है। उनके विचारोंमें गम्भीरता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अफ़लातूनका भारतके दार्शनिक जगत्से भी सम्पर्क था। अस्तु, उनके विचारोंका पाश्चात्य दर्शनपर बड़ा प्रभाव पड़ा है। ईसाई धर्म्मके आचार्य्योंने उसके बहुतसे अंशको अपने ज्ञानकाण्डमें मिला लिया है।

अफ़लातून कहते हैं कि यह दृश्य जगत जिसका ज्ञान हमको इन्द्रियों द्वारा होता है, जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, वास्तविक जगत् नहीं है। यह वास्तविक जगत्की एक धुंधली परछायीं मात्र है। परछायींकी आकृति और गतिविधिको देखकर हम उस वस्तु की आकृति और गतिविधिका कुछ अनुमान कर सकते हैं, जिसकी वह परछाईं है। पर यह अनुमान अपरोक्ष ज्ञानकी बराबरी नहीं कर सकता। वास्तविक जगत्में कई तत्व हैं। उन्हींकी परस्पर संहतिसे वह बना है। उस

जगत्का प्रधान लक्षण यह है कि त्रिकालमें अपरिवर्तनशील अखण्ड, एकरस है। इसलिये वह सत्य है। जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ व्यतिक्रम, अनियमितता, अरोचकता होती है। जहाँ सत्य होगा वहाँ क्रम, नियम, रोचकता होगी। वहाँ सौन्दर्य होगा। असत्यका भरोसा नहीं। उससे हानि ही होती है। जहाँ सत्य है वहीं कल्याण भी है। अतः इस दृश्य जगत्के पीछे, सारभूत, जो तत्वमय जगत् है वह भारतीय ऋषियोंके शब्दोंमें 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' है। मनुष्यकी आत्मा अज और अमर है। वह इस नित्य और सत्यलोकमें विहार करनेकी पात्र है पर इस जगतका साक्षात्कार साधारण बुद्धिसे, जो विषयास्वादनसे कलुषित हो रही है, नहीं हो सकता। इस कामके लिये बुद्धि का परिष्कार करना होगा। उसको विषय सुखों से मोड़कर धीरे धीरे अन्तर्मुख करना होगा, ताकि वह गम्भीर मनन द्वारा तत्वा-लोकका आनन्द ले सके। यह एक दिनकी बात नहीं है। अपने-को यावज्जीवन इसी संयमसे रखना होगा।

जिन साधनोंसे इस काममें, अमर सत्यके ज्ञान प्राप्त करनेमें, सहायता मिलती है उनमेंसे एक प्रबल साधन राज भी है। और साधन तो एक व्यक्ति या थोड़ेसे व्यक्तियोंको प्रभावित करते हैं, राज क्षेत्र विशेषके सभी निवासियोंको प्रभावित करता है। इस दृष्टिसे शासन तो गौण बात हो गयी। राजका मुख्य उद्देश्य है व्यक्तिको विषयसुखोंसे हटाकर सत्यकी अनुभूति कराना। इस प्रकार राज एक विशाल विद्यालय है जिसमें नागरिकोंको संयम,

इन्द्रियनिग्रह, त्याग और तत्वज्ञानकी शिक्षा मिलती है। अफला-तून कहते हैं कि इस शिक्षाकी सफलता इस बातपर निर्भर है कि व्यक्ति अपनेको सर्वतः राजको समर्पित कर दे। उसका जीवन अपने लिये न रह जाय, अपनी इच्छाके अनुसार न चलाया जाय। उसका नियन्त्रण राजके हाथमें हो। राजकी आज्ञा अटल मानी जाय, बिना कुछ कहे सुने, राजाज्ञाका पालन किया जाय।

इसपर वही आपत्ति होगी जो अध्यात्मवादके सम्बन्धमें उठी थी। राजका व्यावहारिक अर्थ होगा शासक और शासक मानव दुर्बलताओंसे परे न होंगे। वह स्वार्थसे भी प्रेरित होंगे और उनकी आज्ञाएँ भ्रममूलक भी होंगी। अफ़लातून इन बातोंको मानते हैं पर ऐसा उपाय बताते हैं जिससे इनका बहुत कुछ निराकरण हो जाय। वह कहते हैं कि शासनका काम उच्चकोटिके दार्शनिक विद्वानोंको सौंपना चाहिये। ऐसे लोग राजपाटके झगड़ेमें पड़ना पसन्द नहीं करते पर यदि इस भारको न उठावेंगे तो अधम लोगोंके हाथमें शासनका सूत्र चला जायगा; यह दार्शनिक, अदार्शनिक सबके लिये अनिष्टकर होगा। इसलिये लोकसंग्रह भावसे प्रेरित होकर विद्वानोंको यह दायित्व लेना पड़ेगा। फिर भी प्रलोभनमें पड़नेका डर है। इसलिये यह भी शर्त लगा दी गयी है कि यह लोग वानप्रस्थ हों, गृहस्थीसे अलग हो गये हों और इनके पास निजी सम्पत्ति न रहने पाये; इनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति राजके भण्डारसे हो। ऐसी दशामें यह

आशाकी जानी चाहिये कि इनकी जो आज्ञाएँ होंगी वह शुद्ध लोकहितके लिये होंगी।

यह सिद्धान्त कुछ बातोंमें आत्मवादसे मिलता है पर दोनोंके दृग्विन्दुओंमें बड़ा अन्तर है। अध्यात्मवादकी दृष्टिमें व्यक्तिका कोई महत्त्व नहीं है; वह राजके महत्त्वका एक आवश्यक साधन-मात्र है; अफ़लातूनके अनुसार व्यक्ति ही सब कुछ है, राज उसकी शिक्षाका एक आवश्यक साधनमात्र है। पूर्ण ज्ञान होनेपर उसे किसी नियन्त्रणकी आवश्यकता न रह जायगी।

यह विवादका विषय हो सकता है कि राजका बाहरी नियन्त्रण कहाँतक लोगोंको तपस्वी, संयमी, जितेन्द्रिय बना सकता है; यह भी सन्दिग्ध है कि किसी भी राजमें बराबर शासन चलानेके लिये निःस्वार्थ, योगिकल्प, विद्यातपोवृद्ध विद्वान् मिलते जायंगे या नहीं। यह दोनों बहुत बड़े 'वाद' हैं, इसीसे अफ़लातूनका खींचा हुआ सुन्दर चित्र कभी भी व्यवहारके क्षेत्रमें न उतारा जा सकता।

———

६

कुछ स्फुट मत

पिछले तीन अध्यायोंमें मैंने उन सिद्धान्तोंका समासेन वर्णन किया है जिन्होंने राजनीतिक जगत्को विशेषरूपेण प्रभावित किया है। परन्तु इनके अतिरिक्त और भी विचार हैं। मनुष्यके लिये राज और व्यक्तिके सम्बन्धका प्रश्न इतना महत्त्व रखता है कि उसपर विचार करना उसके लिये अनिवार्य्य था। हम नीचे कुछ अवतरण देते हैं जिनसे विभिन्न दृष्टिकोणोंका कुछ पता लगता है। उनपर अलग अलग टीका करना अनावश्यक है।

ईसाई-धर्म्मके आदिकालीन प्रमुख प्रचारक सेण्ट पॉल कहते हैं—'राज ईश्वरकी ओरसे (जनतामें) धर्म्म फैलाता है—क़ानून वह गुरु है जो हमको ईसाके पास ले जाता है।' सं० १६५५ में स्टेट सोशलिस्ट दलकी जो कांग्रेस हुई थी उसके अनुसार, प्रोफेसर श्यालरेके शब्दोंमें, 'राज मनुष्योंकी शिक्षाके लिये एक महती नैतिक संस्था है। उसका बहुत ही ऊँचा नैतिक

आदर्श होना चाहिये ताकि अधिकाधिक मनुष्य सभ्यताके बड़ेसे बड़े लाभोंके भागी हो सकें' इसके विरुद्ध अराजकतावादी जीव प्रेव कहते हैं—'न ईश्वर, न कोई मालिक, हर आदमी अपनी इच्छाके अनुसार चले।' बीचमें ब्रिटेन और दूसरे लोकसत्तात्मक राजोंमें प्रचलित लिबरल मत है। उसका खियाल यह है कि राजका होना आवश्यक है पर व्यक्तिके कामोंमें उसको हस्तक्षेप करनेका बहुत ही सीमित अधिकार होना चाहिये। इस मतको लार्थ चैथमके इन शब्दोंमें व्यक्त कर सकते हैं। 'इंग्लैण्डमें हर आदमीका घर उसका किला है। इसलिये नहीं कि उसके चारों ओर ऊँची दीवारें और बुर्जियाँ होती हैं; हो सकता है कि वह पुवालसे छाई हुई झोपड़ी ही हो; उसमें चारों ओरसे हवा सन्नाटे भरती हो; आकाशका हर तत्व—हवा, पानी, बिजली—उसमें घुस सकता हो पर राजा उसमें नहीं घुस सकता, घुसनेकी हिम्मत नहीं कर सकता।' (यहाँ राजा राजका पर्य्याय है।)

सेण्ट पालके धर्म्ममूलक मतके अनुसार तो जनताको स्यात विद्रोह करनेका अधिकार नहीं है, हाँ धर्म्माचार्य्य शासकोंको पृथक् कर सकते हैं पर दूसरे मतोंमें तो शासकोंको बदलनेका अधिकार अवश्य ही है। यूरोपके इतिहासमें कई बार लोगोंने अपने इस अधिकारसे काम लिया है।

मैंने भारतके पुराने आचार्य्योंका मत विस्तारसे नहीं दिख-लाया है। इसका मुख्य कारण यह है कि मैं अगले अध्यायोंमें

जो कुछ लिखनेवाला हूँ वह मेरी सम्मतिमें भारतीय आदर्शोंका निष्कर्ष, भारतीय सिद्धान्तोंकी समयानुकूल व्याख्या है। फिर भी यहाँ संक्षेपमें उसका दिग्दर्शन कराना अस्थानिक न होगा।

राजकी उत्पत्तिकी भारतीय कथा चौथे अध्यायमें दी जा चुकी है। मात्स्यन्यायसे दुःखी प्रजाने मनुको राजा बनाया। जबतक लोग शुद्धसात्विक बुद्धिके थे तबतक राजा न था। उत्तरकुरुमें जहाँ अब भी शुद्ध सत्वान्वित मनुष्य बसते हैं सब लोग बराबर हैं और शासक शासितका भेद, राजका अस्तित्व, नहीं है। राजा शब्द राजका पर्य्यायी है इसका प्रमाण यह है कि आर्य्योंमें गणतंत्र भी थे। कौटिल्यने भौज्य, द्वैराज्य, वैराज्य आदि कई प्रकारके राजोंका उल्लेख किया है। उस समय राज न कहकर 'राज्य' कहते थे पर राज्यका अर्थ राजका विस्तार, शासनकाल आदि भी होता है, इसलिये मैंने सर्वत्र 'राज' शब्दका प्रयोग किया है।

कौटिल्य कहते हैं 'राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः' अर्थात् राजा, राज्य और प्रकृति यह समानार्थक हैं। प्रकृतिमें षाड्गुण्य (छ गुणोंका समूह) होता है। वह गुण हैं, सन्धि, विग्रह (प्रत्यक्ष रूपसे हानिकारक उपायोंसे काम लेना), आसन (तटस्थता), यान (आक्रमण), संश्रय (दूसरेका सहारा लेना) और द्वैधीभाव (दुतरफी चाल)। यह षाड्गुण्य दूसरे शब्दोंमें वही वस्तु है जिसे आज कल प्रभुत्व कहते हैं। राजकी सृष्टि प्रजाकी अन्योन्य हत्यासे रक्षा करनेके लिये हुई पर वह

स्वतन्त्र नहीं है। उसको श्रुतिस्मृतिके अनुसार ही काम करना होगा। श्रुतिस्मृतिके व्याख्याता ऋषिगण और विद्वज्जन, तपस्वी, ब्राह्मण होते हैं। अतः राजके शासकोंको इनके अनुशासनमें रहना होगा। इसीलिये राजका कर्तव्य धर्म्मकी रक्षा करना, धर्म्मकी मर्य्यादाको बनाये रखना है। जबतक वह ऐसा करते हैं तबतक उनमें देवता निवास करते हैं, वह जगत्‌की पालक परा-शक्ति विष्णुके प्रतीक होते हैं। उस अवस्थामें प्रजाका कर्तव्य है कि राजकी आज्ञा माने क्योंकि वह आज्ञा धर्म्मानुकूल होगी और धर्म्मसे इहलोक और परलोकमें कल्याण होता है। परन्तु यदि शासक धर्म्मकी मर्य्यादा छोड़ दे तो फिर वह भक्तिका पात्र नहीं रह जाता। ऋषियोंने राजा वेणको मारकर उसके पुत्रको गद्दीपर बैठाया था। महाभारतमें लिखा है कि लोगोंको चाहिये कि दुष्ट राजाको उसी भाँति निकाल दें जिस प्रकार गाँवसे पागल कुत्ता निकाल दिया जाता है।

७

सुखकी खोज

राजनीति शास्त्र भी विज्ञान है। यह सच है कि वह रसायन की भाँति भौतिक द्रव्योंका विज्ञान नहीं है। इसलिये उसमें भौतिक विज्ञानोंकी भाँति नियतता नहीं है। पत्थरके सभी टुकड़े एकसे होते हैं। यदि एक टुकड़ा कहीं पड़ा है तो हम जानते हैं कि वह अपनेसे कभी न हिलेगा। बाह्य परिस्थितियाँ ही उसमें गति ला सकती हैं। अतः उनको जान लेनेसे हम जान सकते हैं कि उस पत्थरकी किस समय क्या अव   होगी और यह भी कह सकते हैं कि पृथ्वीके सभी टुकड़ोंकी वैसी परिस्थितिमें वैसी ही स्थिति होगी। परन्तु जीवधारियोंमें ऐसी समता नहीं होती। एक ही परिस्थितिमें दो कीड़े भी कभी कभी विभिन्न आचरण करते हैं। मनुष्योंमें तो और भी भेद देखा जाता है। सबके संस्कार एकसे नहीं होते। इसलिये बाहरी बातोंका प्रभाव सब पर एकसा नहीं पड़ता। संस्कारोंकी विषमताके अनेक कारण हो

सकते हैं जैसे कुल भेद, शिक्षा भेद, सम्पत्ति भेद। फिर अदृष्ट अर्थात् पूर्व जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके परिणामसे सबकी बुद्धि एकसी नहीं होती। जो लोग पूर्व जन्मका अस्तित्व और कर्म्मवादकी सत्यता नहीं मानते हैं वह भी यह तो देखते ही हैं कि सबकी बुद्धि एकसी नहीं होती। भेद क्यों होता है इसका ठीक ठीक कारण वह नहीं बतला सकते। अस्तु, कारण कुछ भी हो, बुद्धियोंमें भेद होता है अतः बाह्य परिस्थितियोंका प्रभाव सबपर एकसा नहीं पड़ता। इसलिये सब लोग एकसा व्यापार नहीं करते। इसलिये जीवसम्बन्धी विज्ञानोंमें वह नियतता नहीं होती जो भौतिक विज्ञानोंमें होती है। इतना भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि एक ही व्यक्ति समान परिस्थितियोंमें हर समय एकसा आचरण करेगा। इतना ध्यानमें रखते हुए हमको राजनीति विज्ञानका अध्ययन करना है।

जब यह शास्त्र विज्ञान है तो इसके सिद्धान्त भी वैज्ञानिक ढंगसे ही निर्धारित होने चाहियें। वैज्ञानिक ढंग है कि पहिले उस जातिकी वस्तुओंका आचरण देखा जाय, फिर उस आचरणके पीछे जो नियम काम करता देख पड़े वह सिद्धान्त रूपमें बांधा जाय। पहिले वस्तुओंका गिरना देखा गया, फिर आकर्षण सिद्धान्त कायम किया गया। हजारों मनुष्योंको मरते देखकर यह सिद्धान्त निकला कि मनुष्य मात्रकी मृत्यु होती है। कभी कभी लोग अपनी बुद्धिके बलपर पहिले

सिद्धान्त बना लेते हैं, फिर वस्तुओंके आचरणको उसके अनुसार मिलानेकी चेष्टा करते हैं। यह तरीका गलत अवैज्ञानिक है। अतः हमको राजनीतिमें भी इसी तरीक़े से काम करना चाहिये। पहिले मनुष्योंके आचरणको देखें फिर सिद्धान्त निश्चित करें

हम देखते हैं कि लोग रुपया पैसा चाहते हैं, बाल बच्चा चाहते हैं, समाजमें अच्छा स्थान चाहते हैं, स्वास्थ्य चाहते हैं और यदि वह आस्तिक हैं, परलोकमें अच्छी गति चाहते हैं। शास्त्रीय भाषामें मनुष्यके चार पुरुषार्थ हैं, अर्थ, काम, धर्म्म और मोक्ष। इन्हीं की प्राप्तिके लिये वह सारे जन्म प्रयत्न करता है। किसीकी प्रवृत्ति इनमेंसे एक पुरुषार्थकी ओर अधिक झुकती है किसीकी दूसरेकी ओर परन्तु प्रायः सभी मनुष्य यथासम्भव इन चारोंके खोजी होते हैं। जब यह देख पड़ता है कि सब बातें युगपत् नहीं मिल सकतीं तो फिर अपने अपने संस्कारके अनुसार लोग एकको पकड़ते हैं और शेषको छोड़ देते हैं। यह बात भी देखनेमें आती है कि प्रायशः सबका उद्योग यही होता है कि मेरा उद्देश्य सिद्ध हो, दूसरेका काम बिगड़ जाय ऐसा चाहनेवाला कोई बिरला ही होता है। पर जब हितोंका संघर्ष होता है और यह प्रतीत होने लगता है कि बिना दूसरेका काम बिगड़े मेरा काम नहीं बन सकता तब साधारण मनुष्य इसके लिये भी तैयार हो जाता है। किसी-किसी में यह प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते

यहाँतक पहुँच जाती है कि उनके लिये दूसरेका काम बिगाड़ना मुख्य और अपना काम बनाना गौण लक्ष्य रह जाता है।

परन्तु इन पुरुषार्थों पर ध्यान देनेसे यह साफ देख पड़ता है कि इनकी तहमें एक चीज छिपी है। वह है सुखैषणा—सुखकी चाह। कोई भी मनुष्य हो, किसी भी अवस्थामें हो, वह सुख चाहता है। सुख केवल दु:खकी निवृत्तिका नाम नहीं है, वह एक स्वतन्त्र अनुभूति है। मनुष्य अपने प्रत्येक कामके द्वारा इसी अनुभूतिको ढूंढ़ता है। रुपया, पैसा, सन्तान, पद यह सब सुखके साधन हैं, इसीलिये इनका संग्रह किया जाता है। स्वत: इनमें उपादेयता नहीं है। यह चीजें किसी अवस्थामें सुख देती हैं, उस समय उनका संग्रह करनेको जी चाहता है, अन्यथा उनकी ओरसे जी हट जाता है। जो लोग परलोककी ओर झुकते हैं वह भी सुख ही चाहते हैं। कोई उस सुखको परम-सुख, ब्रह्मानन्द कहता [illegible] श्वर साक्षात्कार जनित आनन्द कहता है। इससे यह परिणाम निकला कि हमारे हर प्रयासकी प्रेरणा सुखैषणासे मिलती है।

इस खोजमें हमको सदा सफलता क्यों नहीं मिलती, हम सदैव क्यों नहीं सुखी रह पाते? इसके दो मुख्य कारण हैं। एक कारण तो यह है कि हमको सुखकी पहचान नहीं है। हम अज्ञानसे अभिभूत हैं। न तो हमको बाहरी जगत्की पूरी पूरी जानकारी है, न हमको अपनी चित्तकी वृत्तियोंकी पहिचान है। एक ही साथ चित्त चारों ओर दौड़ता है पर हममें इतनी

सामर्थ्य नहीं है कि सब वासनाओंकी एक साथ तुष्टि कर सकें। फल यह होता है कि असन्तोष, असुख, बना ही रहता है। अज्ञानके कारण हम जिन वस्तुओंको सुखद समझकर पकड़ते हैं उनमेंसे अधिकांश दुःखद ही निकलती हैं। किसीसे तो प्राप्त करके ही चित्तको विराग हो जाता है, किसीसे भोग-कालमें जी ऊब उठता है, कोई भोगके पीछे विरस लगती है। फिर नये सुखकी खोज आरम्भ होती है। इसी दौड़-धूपमें जीवनलीला समाप्त हो जाती है।

वेदान्तके आचार्योंका कहना है कि यह जगत् ब्रह्म है। ब्रह्म ही मिथ्या मायाके संयोगसे स्थावर-जंगम, चर-अचर, जड़-चेतन विश्वके रूपमें प्रतीत होता है। माया मिथ्या ही सही पर जबतक उसका आवरण है तबतक तो जगत्की प्रतीति होगी, उसकी व्यवहारिक सत्यता मानकर ही चलना होगा। पानीमें न गिरना अच्छा होता पर जब गिर ही पड़े तो यह कहनेसे तो काम नहीं चलता कि मैं पानीसे पृथक् हूं; तैरकर निकलना होगा, तब ही पृथक्ता सिद्ध होगी। इसी प्रकार जगत् मिथ्या है कहना व्यर्थका प्रलाप है। इस मिथ्या घेरेसे निक-लनेका प्रयास करना होगा, अविद्याका आवरण हटाना होगा। अविद्याका पर्दा ज्यों-ज्यों दूर होगा त्यों-त्यों अपने असली रूपकी अनुभूति होगी। अपना असली रूप सत् है, चित् है, आनन्द है। अविद्याके कारण इस आनन्दमयताका अनुभव नहीं होता, इसीलिये सुखकी खोज भीतरसे उठती है। सुखकी

खोज, अपने स्वरूपकी खोज, पतंजलिके शब्दोंमें 'स्वरूपमें अवस्थान'; अपने वास्तविक रूपकी अनुभूतिकी खोज है। इस खोजकी सफलताके लिये यह आवश्यक है कि अविद्याको विद्यासे बदला जाय अर्थात् समुचित शिक्षाका प्रबन्ध हो और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जाय जिसमें यह शिक्षा अबाध रूपसे दी जा सके।

सुखकी प्राप्तिमें इस बातसे बड़ी बाधा पड़ती है कि सब लोग सुखके लिये दौड़ते हैं और इस दौड़में प्रतिस्पर्धा होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि भोक्ता बहुत हैं, भोग्य सामग्री कम है। सबकी यह इच्छा होती है कि मैं स्वाधीन रहूँ अर्थात् अपने सुखको सम्पन्न करनेमें मेरा मार्ग निष्कण्टक रहे पर यह हो नहीं पाता। लोगोंके मार्ग एक दूसरेको काटते हैं, इससे संघर्ष होता है। स्वाधीनताकी खोज भी उतनी ही स्वाभाविक है जितनी कि सुखकी खोज। मनुष्यकी आत्मा वस्तुतः स्वतन्त्र है, अज्ञान उसका स्वभाव नहीं है पर अज्ञानने उसको जकड़सा रक्खा है। वह उससे छूटना चाहता है। पूर्ण स्वाधीनताकी अवस्थामें संघर्षकी कोई सम्भावना नहीं क्योंकि जब एक ही ब्रह्म पदार्थ मायाके द्वारा नाना होकर प्रतीत हो रहा है तो पूर्ण स्वाधीनता अर्थात् पूर्ण ज्ञान की अवस्थामें नानात्व रहेगा ही नहीं, फिर किसका किससे संघर्ष होगा। ज्यों-ज्यों विद्यामें वृद्धि होती जायगी त्यों त्यों संघर्षकी सम्भावना कम होती जायँगी। अभेद बुद्धिके उदय होनेपर

कौन किससे लड़ेगा ? पर जबतक यह बुद्धि उदय नहीं होती—और इसका उदय होना कोई हँसी खेल नहीं है—तबतक इस बातका प्रबन्ध करना होगा कि स्वाधीनताके आवेगमें लोग लड़-भिड़कर ऐसी दुरवस्था न उत्पन्न कर दें जिसमें समाज ही नष्ट हो जाय और किसीकी भी स्वाधीनता न बचे। यह तभी होगा जब स्वाधीनता तो हो पर उसके ऊपर नियन्त्रण रहे, प्रतिबन्ध रहे। जो पूरे आत्मसंयमी हैं वह तो अपने ऊपर आप ही नियन्त्रण कर लेंगे पर इन लोगोंपर बाहरी रोक-थाम लगाना आवश्यक होगा।

कुछ लोग यह सोचते हैं कि साधारण जनता अज्ञानके वशीभूत होनेपर स्वाधीनताकी पात्र नहीं है अतः उसका कल्याण इसीमें है कि वह स्वाधीनतासे वंचित रहे। कुछ थोड़ेसे अधिकारी ही इस योग्य हैं कि वह स्वाधीन रहें। यह नेत्शेके अतिपुरुषवादका एक रूप हो गया। यह ठीक है कि सब लोग पूर्ण स्वाधीनताके पात्र नहीं हैं पर यह भी अटल सत्य है कि बिना पानीमें पांव रक्खे तैरना नहीं आता। जिम्मेदारी, स्वाधीनतासे ही स्वाधीनताकी पात्रता देती है। स्वाधीन प्राणीसे भूलें होंगी पर भूलें ही उत्थानकी सोपान हैं। स्वाधीनता मनुष्यका स्वभाव है। प्रकृति दबायी नहीं जा सकती। यदि राजनीतिक क्षेत्रमें लोगोंको पराधीन बनाकर रक्खा जायगा

उनकी स्वाधीनताकी प्रवृत्ति दूसरे प्रकार व्यक्त होगी। वह दुराचार, व्यभिचारके रूपमें फूटकर निकलेगी। इसके साथ

ही जो लोग ऐसे पतित मनुष्योंपर शासन करेंगे उनके चरित्रका भी पतन हो जायगा। इसलिये अपात्रताके कारण मनुष्योंको स्वाधीनतासे वञ्चित नहीं रक्खा जा सकता। स्वाधीनताका उप-भोग करके गलती करनेसे ही लोग क्रमशः स्वाधीनताका सदुप-योग करना सीख जायंगे परन्तु नियन्त्रण रखना तो अनिवार्य्य-तया आवश्यक है।

यह दोनों बातें कैसे हों, अर्थात् लोगोंको वैसी शिक्षा कैसे मिले जिससे उनकी अविद्या दूर हो और उनको नियन्त्रित स्वाधीनता भी प्राप्त हो सके ? जहाँतक शिक्षा देनेकी बात है, उसके लिये अनेक प्रकारकी संस्थाएँ हैं। सभी छोटे-बड़े विद्या-लय यह काम कर रहे हैं। इनके सिवाय समाजके सभी क्षेत्रोंमें, घरमें, न्यायालयमें, सभा-समितिमें—ऐसी शिक्षा मिलती रहती है जिससे बुद्धिका परिष्कार होता है। यह अपरा विद्याकी बात हुई। जो उत्तम अधिकारी हैं वह साधु महात्माओंके सत्सङ्गसे परा विद्या भी प्राप्त करते हैं। शिक्षा संस्थाओंमें राजकी भी गणना है। राज न तो भौतिक शास्त्रोंको स्वयं पढ़ाता है न वह ब्रह्मविद्या पढ़ानेका आश्रम है। इस सम्बन्धमें तो वह रुपये पैसे का ही आयोजन कर सकता है—ब्रह्मविद्याके लिये तो यह भी नहीं हो सकता। पर सबसे बड़ी बात जो राज करता है, कमसे कम जो उसे करना चाहिये, वह यह है कि वह ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दे जिनमें व्यक्तिको सच्चिदानन्द प्राप्त करनेमें सहायता मिले और ऐसी परिस्थितियोंको दूर कर दे जिनसे इस काममें बाधा पड़ती है।

नियन्त्रित स्वाधीनताके सम्बन्धमें राज ही मुख्यतम संस्था है,। यही वह संघटन है जो स्वाधीनताका उपभोग करनेका सबको अवसर देता है और इसके साथही स्वाधीनता पर नियन्त्रण रखकर उसको उच्छृङ्खल स्वेच्छाचारमें परिणत हो जानेसे बचा लेता है।

अगले पाँच अध्यायोंमें मैं राजके इन दोनों पहलुओं पर विचार करूँगा। देखना यह है कि वह कौनसी परिस्थितियाँ हैं जिनको राजसे प्रोत्साहन मिलना चाहिये और किन परिस्थितियोंको उसे दबाना चाहिये अर्थात् किस प्रकार और किस सीमातक वह मनुष्यको पूर्ण सत्यकी अनुभूतिमें सहायता दे सकता है। दूसरी ओर यह देखना है कि राज किस सीमातक स्वाधीनताको बेलगाम छोड़ सकता है और कहाँतक और किस प्रकार स्वाधीनतापर नियन्त्रण होना चाहिये। अन्तिम प्रश्न यह भी है कि यदि राज अपने कर्तव्यका पालन न करे तो उस समय किस उपायका अवलम्बन किया जाय अर्थात् किस हद्‌तक वह प्रजासे आज्ञा पालन करानेका अधिकारी है।

सुविधाकी दृष्टिसे मैं दूसरे प्रश्न अर्थात् स्वाधीनताके सम्बन्धमें पहिले विचार करूँगा।

———

८

स्वाधीनता

(क) स्वतन्त्रताओंका योगफल

हम देख आये हैं कि प्रत्येक व्यक्ति सुखका खोजी है और स्वाधीन रहना चाहता है। जहाँतक कि वह अपने मनके अनुसार काम नहीं कर सकता उसको सुख नहीं मिलता। दूसरेकी इच्छाके अनुकूल चलनेसे प्रत्यक्ष लाभ होते हों फिर भी चित्त असन्तुष्ट रहता है, सुख नहीं मिलता। जी चाहता है कि यह बन्धन टूट जायँ, चाहे प्रत्यक्ष रूपसे कुछ हानि भी हो जाय। इस प्रवृत्तिको दबानेका प्रयत्न करना व्यर्थ है। एक क्षेत्रमें दबेगी तो दूसरेमें उभरेगी। किसी प्राणीमेंसे उसकी स्वाधीनता की चाहको निकाल देनेका प्रयास वैसा ही है जैसे उसकी आत्माका हनन कर डालना।

ग्रामर आव पालिटिक्समें लास्की कहते हैं 'मेरी रायमें उस वातावरणको उत्साहके साथ कायम रखनेको स्वाधीनता कहते हैं जिसमें मनुष्योंको अपने उत्कृष्टतम स्वरूपमें स्थिर रहनेका

अवसर मिलता है।' उत्कृष्टतम स्वरूपमें स्थिर रहनेसे लास्कीका तात्पर्य समाधि लगा कर आत्मदर्शन करना नहीं है। उनका भाव यही है कि प्रत्येक मनुष्यको इस बातका अवसर मिलना चाहिये कि वह अपनी बुद्धिका, अपनी योग्यताका पूरा पूरा विकास कर सके। साधारणत: बहुतसे लोगोंको ऐसा अवसर नहीं मिलता। कविके शब्दोंमें बहुतसे दिव्य प्रकाशवाले रत्न समुद्रके गर्भमें ही छिपे रह जाते हैं, बहुतसे सुन्दर सुगन्धित फूल जङ्गलमें ही खिलकर झड़ जाते हैं।' बहुतसे ऐसे होनहार मनुष्य हैं जिनकी प्रतिभा कभी खिल ही नहीं सकती। न वह अपना कोई काम बना पाते हैं, न समाजकी सेवा कर पाते हैं। उनका सारा जीवन असन्तोषकी जीती जागती तस्वीर होता है। ऐसा न होना चाहिये। इन सुषुप्त प्रतिभाओंको जागनेका अवसर मिलना चाहिये। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होनी चाहिये जिसमें लोग अपनी अपनी प्रतिभाको विकास दे सकें। किसी किसीकी प्रतिभा समाजविरोधी भी हो सकती है। गिरहकट और विष देनेवालेकी प्रतिभाका विकास समाजके लिये हानिकर होगा। उनको तो रोकना ही होगा और यह देखना होगा कि जेलमें बन्द करनेके सिवाय उनसे कोई और काम लिया जा सकता है या नहीं। पर साधारण मनुष्योंकी प्रतिभाको प्रस्फुटित होना चाहिये। इस बातके लिये जो परिस्थितियाँ आवश्यक हों उन्हींको लास्कीने वातावरण कहा है। वह परिस्थितियाँ कौनसी हैं, इसका निर्णय करना कठिन

है। इसलिये इस प्रश्न पर दूसरी तरह विचार किया जा सकता है। जो अनुकूल परिस्थितियां हैं उनके कायम होनेके लिये यह आवश्यक है कि प्रतिकूल परिस्थितियाँ दूर कर दी जायँ। इसी बातको लास्कीने एक दूसरी पुस्तकमें यों लिखा है: 'उन सामाजिक अवस्थाओं परसे, जिनके बना वर्तमान सभ्यताके युगमें व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता, प्रतिबंधके अभावको स्वाधीनता कहते हैं।' यह परिभाषा नमात्मक है, इसलिये अंशतः अपूर्ण है पर इसके साथ ही सुकर भी है। यदि हम उन मुख्य बातोंकी विवेचना कर लें जो वैयक्तिक सुखके लिये आवश्यक हैं और फिर यह देख लें कि उनपर इस समय क्या प्रतिबन्ध हैं और उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है तो स्वाधीनताका स्वरूप बहुत कुछ समझमें आ जायगा। यह बात भी स्पष्ट हो जायगी कि उन प्रतिबन्धोंको दूर करनेमें ही राजकी सार्थकता है।

ऊपर वैयक्तिक सुखको ही प्रधान माना है। यह ठीक है कि सामूहिक सुख भी होते हैं, कई प्रकारके सुख अकेले भोगे ही नहीं जा सकते पर वहां भी प्रत्येक व्यक्तिको अपने ही सुखकी अनुभूति होती है। यदि किसी विशेष प्रकारकी अनुभूति समूहमें ही हो सकती है तो व्यक्ति समूहमें जायगा। पर उसको समूहके सुखको नहीं, अपने सुखकी अनुभूति होगी और यही अनुभूति प्रत्यक्ष अनुभूति होगी। दूसरोंके सुखका अनुमान मात्र हो सकता है। जो मनुष्य दूसरोंके लिये अपनेको बलि कर देता है, दूसरोंके सुखके लिये अपने सुखोंको तिलाञ्जलि दे देता है, उससे भी यह

काम इसलिये बन पड़ता है कि उसको इस त्यागमें ही एक प्रकार-का मानस सुख मिलता है। सुख वह भी चाहता है और पाता है पर उसका बौद्धिक विकास ऐसा है कि उसको प्राय: सामान्य लोगोंसे भिन्न बातोंमें सुख मिलता है। अत: व्यक्ति और उसके सुखको ही केन्द्र बनाना उचित है। कैण्टके शब्दोंमें 'प्रत्येक व्यक्ति स्वयं लक्ष्य है।' व्यक्ति साध्य है, समाज साधन है। यदि व्यक्ति-के सुखी रहनेका आयोजन कर दिया गया तो व्यक्तियोंका समूह अर्थात् समाज अनायास ही सुखी रहेगा। वैयक्तिक प्रतिबन्धके हटनेसे सामूहिक प्रतिबन्ध आप ही हट जायगा। व्यक्तिको यह प्रतीत होता है कि मैं बलात् संकुचित किया जा रहा हूँ, दबाया जा रहा हूँ। प्रतिबन्धके हट जानेसे उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं यथेच्छ दिशामें फैल सकता हूँ।

बहुत बड़ा प्रतिबन्ध दूसरोंकी स्पर्धा और उनका अनुचित आचरण, हमारे कामोंमें उनका पदे-पदे हस्तक्षेप है। इसकी रोक तो राज कर देता है। जो किसीको तंग करता है वह दण्ड पाता है। पुलिस और न्यायालयके द्वारा राज विपथपर चलने-वालोंको, दूसरोंके साथ छेड़छाड़ करनेवालों और समाज-विरोधी कामोंमें लगनेवालोंको, अपने नियन्त्रणमें रखता है। राज ऐसा तभी कर सकता है जब वह लोगोंके मनमानेपनको रोक सकता है। यदि प्रत्येक मनुष्य पूरा पूरा स्वच्छन्द रहे तब तो राजका होना न होना बराबर है। अत: राजको यह अधि-कार होना ही चाहिये कि व्यक्तियोंकी स्वाधीनतापर कुछ विशेष

अवस्थाओंमें प्रतिबन्ध कर सके।

वह विशेष अवस्थाएँ कौनसी हैं, राज कब कब व्यक्तिकी स्वाधीनतामें हस्तक्षेप करे, इसका निर्णय राजकी इच्छापर नहीं छोड़ा जा सकता। इन अवस्थाओंका निर्णय पहिलेसे ही हो जाना चाहिये ताकि सबको विदित रहे कि अमुक काम किया जा सकता है, अमुक काम नहीं किया जा सकता। यदि मैंने अमुक काम किया तो राज मुझसे जवाब तलब करेगा। यह निश्चय कानूनके द्वारा होता है। जो समाज सुव्यवस्थित होता है उसमें कानून साफ और स्पष्ट होते हैं।

कानूनकी एक परिभाषा यह है कि वह एक ऐसी आज्ञा है जिसके साथ दण्ड लगा हुआ है। 'ऐसा करो, नहीं तो यह सजा मिलेगी, ऐसा मत करो नहीं तो वह दण्ड मिलेगा' कानून-का यही स्वरूप देख पड़ता है। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि कानून राजकी इच्छा है, उसका एकमात्र स्रोत राजकी इच्छा है। इसीलिये कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि हमारी जिन माँगोंको राज स्वीकार कर ले उनको हक कहते हैं। हम अपने लड़कोंको रखना चाहते हैं। राज इसकी मनाही नहीं करता। अतः हमको लड़कोंको रखनेका हक है। कल यदि राज यह आज्ञा निकाल दे कि सबको अपनी पहली सन्तति मार डालनी होगी तो फिर पहिले बच्चेको रखना हमारे हकके बाहर हो जायगा।

कानूनका यह रूप इस समयकी वस्तुस्थितिसे तो मिलता

है पर हक़, अधिकार की यह व्याख्या संकुचित ही नहीं दूषित है। हमको समाजमें कुछ काम करने हैं। हममेंसे प्रत्येकके कुछ कर्तव्य हैं। यदि उनका पालन न किया जाय तो समाजका विनाश हो जायगा। पर हम इन कर्तव्योंका पालन तब ही कर सकते हैं जब कुछ सुविधाएँ प्राप्त हों। अतः कर्तव्यका दूसरा पहलू अधिकार है। जिस अधिकारके साथ कोई निश्चित कर्तव्य न बँधा हो वह अधिकार प्राकृतिक नहीं कृत्रिम है। जो सुविधा हमारे आवश्यक कर्तव्योंके पालनके लिये अनिवार्य्य है वह हमारा नैसर्गिक हक़ है, चाहे राज उसको स्वीकार करे चाहे न करे। इसलिये लास्की कहते हैं: 'क़ानून राजकी इच्छाका नाम नहीं है वरन् वह वह वस्तु है जिससे राजकी इच्छाको नैतिक बल प्राप्त होता है। यदि कानूनके द्वारा राज प्राकृतिक हकोंकी रक्षा करता है तब तो वह मान्य है और उसका आधार नैतिक है, अन्यथा, वह केवल पशुबलके जोरपर चलना चाहता है। वस्तुतः राज हकोंकी सृष्टि नहीं करता, हक पहिलेसे चले आते हैं और राजकी आज्ञाओंको मान्यता प्रदान करते हैं।'

अस्तु, कानूनका यह वास्तविक स्वरूप समझकर ही हमको यह मानना चाहिये कि कानूनके द्वारा यह निश्चित रहना चाहिये कि राज हमारे साथ कहाँतक हस्तक्षेप कर सकता है। सम्भावना यह है कि धीरे-धीरे राज अपने हस्तक्षेपका क्षेत्र बढ़ाता जायगा। सभी ऐतिहासिक राजोंने ऐसा किया

है। लोकहितके नामपर जनताके नैसर्गिक हक धीरे-धीरे दबाये जाते हैं और जो थोड़े बहुत हक बच जाते हैं वह राजकी कृपापर निर्भर रहते हैं। इसलिये राजके आगे बढ़नेकी प्रवृत्तिको रोकनेकी अथक और निरन्तर आवश्यकता पड़ती है। जैसा कि ठीक ही कहा गया है 'निरन्तर सतर्कता स्वाधीनताका मूल्य है।'

पहिली आवश्यकता. इस बातकी है कि प्रत्येक मनुष्यको अपनी योग्यताके अनुसार शिक्षा प्राप्त करनेमें रुकावट न हो। जो अशिक्षित है वह सदा दूसरोंके हाथकी कठपुतली बना रहेगा। शिक्षाका अर्थ केवल साक्षरता नहीं है, यद्यपि साक्षरता वह नींव है जिसके बिना शिक्षाकी दीवार खड़ी नहीं रह सकती। आजकल जो जितना ही शिक्षित है, जिसको इतिहास और विज्ञान, राजनीति और अर्थशास्त्रका, जितना ही ज्ञान है, जो अन्ताराष्ट्रीय घटनाओंके महत्वको जितना ही समझता है वह समाजमें उतना ही उपयोगी हो सकता है और अपने जीवनको उतना ही सुखी बना सकता है। शिक्षाके बिना, उन भाव और विचार तरंगोंको समझे बिना जो सम्प्रति जगत्को चला रही हैं, अपने हितोंकी रक्षा नहीं हो सकती। जो अशिक्षित है उसको दूसरों के संकेतपर नाचना पड़ेगा और चतुर राजपुरुष उसे जो समझा देंगे उसी भुलावेमें पड़कर वह अपनी स्वाधीनता खो बैठेगा। अतः शिक्षाका पूरा प्रचार होना चाहिये और किसी कुल विशेषमें जन्म

होनेके कारण या धनकी कमी होनेके कारण किसीको शिक्षित बननेसे वंचित न होने देना चाहिये। जो लोग शिक्षाके सम्बन्धमें सन्तोपका उपदेश देते हैं, लोगोंको यह समझाते हैं कि मनुष्य बिना अधिक पढ़े-लिखे भी सुखी रह सकता है। वह या तो जान-बूझकर शरारत करते हैं—शिक्षा और उसका मीठा फल थोड़ेसे लोगोंके लिये सुरक्षित रखना चाहते हैं—या भूल करते हैं। ज्ञान कभी बुरी वस्तु नहीं हो सकता। सबकी योग्यता एकसी नहीं होती पर इस नैसर्गिक बातके साथ कृत्रिम रुकावटों—कुल, वर्ण, जाति, धन आदिकी रुकावटों—को जोड़ना अनुचित है। इसका परिणाम यह होगा कि समाजका एक बड़ा टुकड़ा स्वाधीनताका उपभोग करने और उसकी रक्षा करने, स्वाधीनताके सच्चे स्वरूपको पहिचानने और उसको गदला न होने देने—के सम्बन्धमें निकम्मा हो जायगा। इससे केवल उसकी ही नहीं सारे समाजकी हानि होगी।

इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि समाजमें किसी समुदायको विशेष अधिकार प्राप्त न हों। इतिहास ऐसे कई उदाहरण पेश करता है, जिनमें मनुष्योंके किसी समूहको राजमें विशेष अधिकार—व्यवस्थापक सभाओंकी सदस्यताके विषयमें, सर्कारी नौकरियोंके विषयमें, शासनमें ऊँचे पदोंपर नियुक्त होनेके विषयमें, राज-करोंके देने न देनेके विषयमें, कानूनके द्वारा दण्ड पानेके विषयमें—प्राप्त रहे हैं। ऐसे समूह कई प्रकार

के हुए हैं। अमुक अमुक पद ब्राह्मण या क्षत्रिय या अंग्रेजको ही मिल सकते हैं, दूसरोंको नहीं; संख्यामें कम होते हुए भी अमुक समितिमें अंग्रेजों या मुसलमानोंको अधिक प्रतिनिधि मिलने चाहिये; अमुक सम्प्रदायवालोंको इतनी प्रतिशत सर्कारी नौकरियाँ मिलनी ही चाहिये, चाहे उनसे अधिक योग्यता रखने वाले दूसरे सम्प्रदायोंके मनुष्य मिल सकते हों; अमुक अपराधमें शूद्रको, इतना दण्ड और ब्राह्मणको इससे कम दण्ड मिलना चाहिये; जो मुसलमान नहीं है, उसको अमुक विशेष कर देना पड़ेगा; जो अंग्रेज नहीं है उसको अपनी रजिस्टरी करानी पड़ेगी और वह अमुक अमुक काम नहीं कर सकता; जो रोमन नागरिक है उसके ऊपर साधारण न्यायालयोंमें और साधारण कानूनोंके अनुसार मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। यह सब विशेषाधिकारके उदाहरण हैं। कहीं तो भाग्यवान् समुदाय जन्मना बनता है, कहीं वह किसी विशेष सम्प्रदाय वालोंतक सीमित रहता है। आजकल कुछ देशोंमें राजनीतिक दलोंको ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त हो गये हैं; रूसमें समष्टिवादी, जर्मनीमें नात्सी, इटली में फासिटी इसके उदाहरण हैं।

यह व्यवस्था अच्छी नहीं है। जो लोग विशेष अधिकारोंका उपभोग करते हैं उनमें उच्छृंखलताका बढ़ना अवश्यम्भावी है। वह आलोचनाको सहन न कर सकेंगे। जो अधिकार उनके हाथमें होंगे उनके अनुपातमें उनके कर्तव्य बहुत कम होंगे। उनके चरित्रका पतन होगा। जितना बोझ उनके कन्धों पर

होगा उसको उठानेमें वह असमर्थ होंगे। दूसरी ओर वह लोग भी, जो अधिकारसे वञ्चित रक्खे जायँगे, पतित होते जायँगे। उनमें असन्तोष, क्रोध आदि तामसी भाव बढ़ते जायँगे, निष्क्रियताकी वृद्धि होती जायगी, कर्तव्यबुद्धि और दायित्वके भावकी शिथिलता होती जायगी। सारे समाजकी शक्ति समाज-की सेवामें न लग सकेगी। शासनका अधिकार केवल क्षत्रियोंके हाथमें रहनेका फल यह हुआ कि जब पठानोंका आक्रमण हुआ तो क्षत्रियोंके सिवाय जो और लोग थे वह तो 'कोउ नृप होइ हमैंका हानी' भावमें डूबे रहे, उन्होंने समझा कि राज तो राजपूतोंका है, यह जानें इनका काम जाने; जो लोग देशभक्त थे उनको जिम्मेदारीके साथ काम करनेका अभ्यास और अनु-भव न था। उधर अकेले राजपूत इस अभूतपूर्व आक्रमणको अकेले रोक न सके। निरंकुश अधिकार भोगने उन्हें जर्जर कर डाला था। फल यह हुआ कि सारे समाजकी स्वतन्त्रता छिन गयी। इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि राजके अन्तर्गत कोई ऐसा समुदाय न हो जिसके सदस्योंको केवल इसलिये कुछ विशेष अधिकार, ऐसे अधिकार जो अन्य नागरिकोंको लभ्य न हों, प्राप्त हों कि वह उस समुदायके सदस्य हैं।

स्वाधीनताकी रक्षाके लिये विचार-स्वातंत्र्य बहुत आवश्यक है। यह कह सकते हैं कि विचारोंका क्रीड़ा क्षेत्र बुद्धि है और उसको कोई बाँध नहीं सकता, इसलिए विचार-स्वातंत्र्य तो सबको सदैव प्राप्त है। यह बात ठीक है। विचारों पर प्रत्यक्ष

रोक नहीं बिठायी जा सकती, परन्तु राज इसके लिये अप्रत्यक्ष उपायोंसे काम लेते हैं। वह लिखने बोलनेकी, सभासमिति बनानेकी, स्वतंत्रता को रोकते हैं ताकि विचारोंका प्रचार रुक जाय। यह शक्ति राजाके पास रहना अच्छा नहीं, क्योंकि इसका दुरुपयोग होना बहुत सम्भव है।

विचारोंकी शक्ति कामोंकी शक्ति से कहीं प्रबल होती है, क्योंकि विचार कामोंके प्रेरक होते हैं। विचारकी चोट मनुष्यके जीवनको बदल देती है। सभ्यता और संस्कृतिका जो कुछ विकास हुआ है वह विचारोंके ही द्वारा हुआ है। यदि नये विचारोंका प्रचार न होता, तो बौद्ध धर्मका नाम कौन जानता, इस्लाम और ईसाई सम्प्रदायका कहां पता होता? यह किसीको कैसे बतलाया जाता कि पृथ्वी सूर्य्यकी परिक्रमा करती है? सम्भव है हम किसी विचारको बुरा समझते हों और उसके प्रचारको हानिकर मानते हों, पर जिन विचारोंको हम अच्छा समझते हैं उनको भी कोई बुरा समझता होगा, फिर वह तो उसके प्रचारको रोकेगा ही। इससे तो यही अच्छा प्रतीत होता है कि विचारोंको रोका ही न जाय, उनका आपसमें संघर्ष होने दिया जाय। जो विचार जानदार होंगे, जो जनसाधारणको रुचेंगे, जो लाभप्रद प्रतीत होंगे, वह तो रह जायँगे, शेष आप ही गिर जायँगे। आखिर विचारधाराको कोई कब रोक सका है? ईसाइयोंको शुरू शुरूमें भूखे शेरोंके पिंजड़ोंमें छोड़ा गया, मारा गया, पीटा गया, सिक्खोंकी खालें खींची गयीं,

उन्हें ईंटोंमें चुना गया, भालोंकी नोकपर उठाया गया; पृथ्वी सूर्यके चारों ओर घूमती है, इसी कहने पर ब्रूनो जीते जी जला दिये गए, परन्तु परिणाम क्या हुआ ? जिन लोगोंने यह काम किये उनके हाथ केवल अपयश लगा, उनका प्रयास बिल्कुल निष्फल रहा, न ईसाई सम्प्रदाय दबा, न सिक्ख सम्प्रदाय नष्ट हुआ; न नव्य ज्योतिष मिटा। जिस पुस्तकको सर्कार दूषित कह कर जब्त करती है उसका प्रचार बढ़ जाता है। जो लोग उसे कभी न पढ़ते वह भी दूने चौगुने मूल्यपर उसे लेनेका प्रयत्न करते हैं। जो समाचारपत्र दबाया जाता है उसके साथ सबको सहानुभूति हो जाती है। बहुतसे नये आन्दोलन उठते हैं जो आपही नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि उनकी विचारधारा लोगोंको हृदयग्राही नहीं प्रतीत होती, पर सर्कारकी कुदृष्टि उनको थोड़े कालके लिये जीवित कर देती है। इसलिये विचारों-के प्रचारको रोकनेका प्रयास करना व्यर्थका काम है। यह कहा जा सकता है कि कुछ बातें तो ऐसी हैं जिनको रोकना सभी लोग ठीक समझेंगे, जैसे अश्लील साहित्य। यह बात भी निर्विवाद नहीं है। कई महाकवियोंकी लेखनियोंसे ऐसी बातें निकली हैं जिनको अश्लील ही कहना पड़ेगा। उनको निकाल देनेसे साहित्य संसारकी क्षति होगी। कई धर्म्मग्रंथों-में—वेद, पुराण और बाइबल इसके उदाहरण हैं—अश्लील वाक्य आये हैं। कई प्रसिद्ध चित्रकारोंकी रचनाएं अश्लील हैं। सड़कपर खड़े होकर गाली बकना या गन्दे चित्र दिखाना

बुरा है, इससे बहुतसे देखने-सुनने वालोंको कष्ट होता है परन्तु ऐसा साहित्य जिसको कुछ लोग अश्लील समझते हों दूसरी चीज है। उसको पढ़नेके लिये कोई विवश नहीं किया जाता। यदि लोगोंकी बुद्धि संस्कृत है तो वह बुरी बातोंसे आपही हट जायगी। यदि वह कुसंस्कृत है तो बुराईके दस मार्ग ढूंढ़ निकालेगी। यही बात ऐसे साहित्यके लिये लागू है, जिसमें किसी सम्प्रदाय या उसके प्रवर्तकपर कटाक्ष किया गया हो। ऐसे संबंधमें लिखनेवालेको संयत भाषा लिखनी चाहिये। गाली गलौजसे न तो कोई धर्म्म नष्ट होता है न अपना मत ऊँचा होता है, पर राजके लिये यह उचित नहीं है कि धर्म्मा-लोचनको रोक दे। जो धर्म्म पुराने देव-देवियोंकी निन्दा करके उनके उपासकोंके सर तोड़कर आगे आये हैं उनको यदि अपनी सत्यतापर विश्वास है तो थोड़ीसी कटु आलोचना सुननेके लिये भी तैयार रहना चाहिये। कमसे कम राजको उनकी ओरसे उनके आलोचकोंका मुँह न बन्द करना चाहिये। बड़ा प्रश्न तो यह है कि कौनसा विचार उचित है कौनसा अनुचित। इसका निर्णय राजपर कैसे छोड़ा जाय। जो लोग राजकी ओरसे इस कामके लिये नियुक्त होंगे, वह आप्त पुरुष होंगे अर्थात् यथार्थ ज्ञानी होंगे और निष्पक्ष, निर्मम, कर्मी होंगे, इसका कोई भरोसा नहीं है। उनके हाथों कला और वाङ्मय, विज्ञान और दर्शनकी निर्दय हत्या होगी। लोकहितके नामपर सत्यका गला घोंटनेका प्रबन्ध करना ठीक नहीं।

इसलिये विचारोंके लिखने पढ़नेमें रोक न होनी चाहिये

कई काम ऐसे हैं जिनको व्यक्तियोंकी अपेक्षा संगठित समितियाँ अच्छा कर सकती हैं। विचारोंका प्रचार, वर्गहित-की रक्षा, यह काम संघोंके द्वारा अच्छे होते हैं। यदि मजदूर समझें कि वह पृथक पृथक रहकर मिल मालिकोंके सामने ठहर सकेंगे तो यह उनकी भूल होगी। सम्मिलित रहनेमें ही उनकी भलाई है। इसी प्रकार विचारोंका प्रचार भी समितियाँ अच्छा कर सकती हैं। समिति बनानेमें कोई रोक न होनी चाहिये। रजिस्टरीके ऐसे नियम तो राजको बनाने ही चाहिये, जिनसे समितियोंके सदस्योंके हितोंकी रक्षा हो, पर उनके भीतरी प्रबन्धमें हस्तक्षेप करना अनुचित है। एक बात साफ है। स्वाधीनता वहींतक है जहाँतक उसका दुरुपयोग नहीं होता। मतका प्रचार करना एक बात है, ऐसा काम करना दूसरी बात है जिससे राजके कर्तव्य-पालनमें बाधा पड़नेकी आशंका हो। यदि कोई संस्था सर्कारको उलटनेके लिये शस्त्रसंग्रह करना चाहे तो उसको इस बातकी आशा नहीं करनी चाहिये कि राज उसे स्वतन्त्र रहने देगा। पर यदि कोई समिति यह प्रचार करती है कि इस सर्कारको निकाल देना चाहिये या 'शासनपद्धतिको बदल देना चाहिये तो उसे न छेड़ना चाहिये। यदि शासन अच्छा है तो यह प्रचार निष्फल जायगा; यदि शासन बुरा है तो विद्रोहों और क्रान्तियोंका इतिहास बतलाता है कि वह पलट

कर रहेगा, पशुबल उसे चिरायु नहीं बना सकता ।

धार्मिक स्वतंत्रताका बहुत बड़ा महत्व है। राजके संचालकों-का अपना विश्वास कुछ भी हो, पर उनको धार्मिक बातों में तटस्थ रहना चाहिये । राजकी दृष्टिमें एकदेववादी, बहुदेव वादी, अनात्मवादी, आस्तिक, नास्तिक सब बराबर होने चाहिए। जो धर्माचार्य चाहें वह अपने तर्क या तपोबलसे दूसरोंको प्रभावित करें, जिसके चित्त में किसी अदृश्य शक्तिपर विश्वास जमता हो वह उसको जिस नामसे चाहे पुकारे और उसकी जैसे चाहे पूजा अर्चा करे। जिसको किसी ऐसी शक्तिकी सत्त मान्य नहीं है वह मनही मन हँसा करे या लोगोंकी मूर्खतापर रोया करे। पर जबतक सार्वजनिक शान्तिमें बाधा पड़नेकी नौबत नहीं आती तब तक राजको इन विवादोंमें पड़ने की आवश्यकता नहीं है। उसका काम यह देखना है कि किसीको अपने धार्मिक कृत्योंके सम्पादन तथा अपने धार्म्मिक विचारोंके प्रचारमें बाधा नहीं पड़ती ।

किसी राजमें कहाँतक स्वतन्त्रता है, इसकी बड़ी कसौटी वह है कि वहाँ राजकी आलोचना करनेकी कहाँतक अनुमति है । अच्छेसे अच्छे शासक भी आलोचनाको थोड़ा-बहुत नापसन्द करते हैं। वह यह भूल जाते हैं कि मनुष्य होनेसे उनसे भी भूल हो सकती है। खयाल यह होता है कि जो मेरी आलोचना करता है वह मेरी नीयतपर आक्षेप करता है। पर बात यह है कि जहाँ आलोचना न होगी वहाँ शासकोंकी स्वच्छ-

न्दता बढ़ती जायगी और उनसे भूलें भी बहुत होंगी। उनको यह तो पता चलेगा नहीं कि लोग क्या चाहते हैं, अपनी बुद्धिमें जैसा आया कर बैठेंगे। यदि कभी किसी भूले-भटकेने कुछ आपत्ति की तो उसे कुचल डालनेकी इच्छा होगी। फलतः भीतर ही भीतर असन्तोष बढ़ेगा और एक दिन भयंकर विस्फोट होगा। अतः राजाका हित इसीमें है कि लोगोंको उस पर आक्षेप करनेमें, उसके कामोंमें दोष दिखलानेमें, किसी प्रकारकी रुकावट न हो।

ब्योरेकी तो कई और बातें भी गिनायी जा सकती हैं, पर ये मुख्य हैं। यदि इनके विषयमें रोक टोक न हो तो व्यक्तिको स्वाधीन कह सकते हैं। इसका तात्पर्य यह निकला कि स्वाधीनता एक वस्तु नहीं, कई स्वतन्त्रताओं, कई अनुकूल परिस्थितियों का योगफल है।

फिर भी कभी कभो राज और व्यक्तिका संघर्ष हो सकता है। राजकी अपनी पृथक् आत्मा न सही, पर वह समष्टि है और व्यक्ति व्यष्टि। यदि समष्टिके नामपर राजके अधिकारी व्यक्तिकी किसी स्वतन्त्रतापर आघात करें तो उस समय उसे न्यायालयकी शरणमें जाकर अपने और राजके बीचमें निर्णय करानेका अधिकार होना चाहिये। न्यायालय केवल दो व्यक्तियोंके बीचमें ही पंचायत नहीं करते, उन्हें राज और व्यक्तिके बीचमें भी पंच बनना होगा। उनको यह निर्णय करना होगा कि जो आज्ञा व्यक्तिको दी गयी है वह दी जा सकती भी थी या नहीं,

राजको वैसी आज्ञा देनेका अधिकार था भी या नहीं। अवश्य ही न्यायालय कानूनका आश्रय लेंगे, पर उनको कानूनकी व्यापक व्याख्या करनी पड़ेगी। जो सर्कारी आज्ञा मनुष्यके नैसर्गिक हक़ोंको रौंदती है वह अवैध, राजकी अधिकारसीमाके बाहर, अथच अमान्य है।

इस प्रकारका निष्पक्ष निर्णय न्यायालय तभी कर सकते हैं, जब वह सर्कारके अधीन न हों। यदि न्यायाधीशोंकी पदोन्नति, वेतनवृद्धि आदि सर्कारको खुश रखने पर निर्भर है तो वह निष्पक्ष न्याय नहीं कर सकते। सामान्यतः ऐसा ही होना चाहिये कि जबतक किसी न्यायाधीश पर बेईमानी या राजद्रोह या कोई दूसरा इसी प्रकारका आरोप प्रमाणित न हो जाय या वह किसी आधिव्याधिके कारण काम करनेके अयोग्य न हो जाय जबतक वह पेंशनके वयके पहिले हटाया न जा सके। ऊपर 'सामान्यतः' कहनेका विशेष तात्पर्य है। न्यायालयोंको भी समयकी गतिके अनुसार चलना चाहिये। यदि देशमें आर्थिक या राजनीतिक क्रान्ति हुई है, समाजकी व्यवस्था नये विचारोंके आधारपर हो रही है तो न्यायालयका कर्तव्य है कि इस नयी परिस्थितिको सामने रखकर क़ानूनकी व्याख्या करे। यदि न्यायाधीश अपने पदका दुरुपयोग करके पुरानी व्यवस्थाको कायम रखनेका प्रयत्न करेगा तो उसे हटानेका प्रबन्ध करना सर्वथा न्याय्य होगा। न्याय किन्हीं ऐसे नियमोंका नाम नहीं है जो सदाके लिये आकाशसे टपक पड़े हैं। समय समय पर अपने

ज्ञान और संस्कृतिके अनुसार मनुष्य समाज आपसके सम्बन्धों-के विषयमें एक मर्य्यादा बना लेता है। बस इस मर्य्यादाकी अनुकूलता न्याय, प्रतिकूलता अन्याय है।

———

९

स्वाधीनता

(ख) अनुकूल शासनव्यवस्था

पिछले अध्यायमें जिन स्वतन्त्रताओंका उल्लेख किया गया है उनकी, और दूसरी स्वतन्त्रताओंकी जो अनुक्त रह गयी हों, रक्षाके लिये राजके भीतर शासनकी व्यवस्थामें भी कुछ खास बातें होनी चाहियें। यहाँ मैं इस शास्त्रार्थको नहीं उठाना चाहता कि नरेश हो या न हो, हो तो उसके अधिकार ब्रिटेनकी भांति परिसीमित हों या जापानकी भांति, पार्लिमेण्ट और शासकमण्डलमें ब्रिटेन जैसा सम्बन्ध हो या अमेरिका जैसा या स्विट्जरलैण्ड जैसा। यह सब प्रश्न महत्त्व रखते हैं पर यहाँ उनके सम्बन्धमें विचार करनेका स्थल नहीं है। सर्कारका रूप कैसा भी हो, कुछ बातें नितान्त आवश्यक हैं। उनकी ओर इस अध्यायमें संकेत होगा। इसके साथ ही हम शासनपद्धतिके प्रश्नकी ओर बिल्कुल उदासीन नहीं रह सकते। इस सम्बन्धमें भी समासेन थोड़ासा विचार करना ही होगा।

पहिली आवश्यक बात यह है कि शासन बहुत केन्द्रीभूत न होना चाहिये। सब अधिकार एक ही जगह जमा न होने चाहियें। इसका अर्थ यह है कि सब कर्तव्य एक ही जगह जमा न होने चाहियें। कामके अन्तिम नियन्त्रण और नीति निर्धारण-का स्वत्व सर्कारको रहे पर स्थानीय स्वायत्त शासनका विस्तार होना चाहिये। म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड जैसी संस्थाओं-की संख्या बढ़नी चाहिये और उनकी जिम्मेदारी भी बढ़नी चाहिये। इससे कई लाभ होते हैं। लोग स्थानीय प्रश्नोंके सम्बन्धमें अधिक जानकारी रखते हैं और उनमें अभिरुचि भी अधिक रखते हैं इसलिये स्थानीय शासन को स्वायत्त ही होना चाहिये। स्थानीय रागद्वेषके कारण खराबियाँ भी होती हैं, इनमें उलझ कर लोग काम बिगाड़ डालते हैं। इस ओर राजको कड़ी दृष्टि रखनी होगी, परन्तु स्वायत्त शासन ही अधिकारोंके उपभोग और कर्तव्योंके पालनकी पाठशाला है। जनता ऐसी संस्थाओंके द्वारा स्वतन्त्रताका मूल्य सीखती है और यदि स्वतन्त्रता पर आघात होता है तो इस आक्रमणका विरोध करना सीखती है। यह शिक्षा उस अवस्थामें भी काम आती है जब राजकी ओरसे स्वतन्त्रता घटानेका प्रयास होता है। यदि एक ही हाथमें नीचेसे ऊपर तक पूरे शासनकी डोर रहेगी तो उसकी शक्ति बहुत बढ़ जायगी और उसके आक्रमणोंको पहिचानना और उनका सामना करना बहुत कठिन हो जायगा। इसी प्रकार बड़े देशोंमें प्रादेशिक या प्रान्तीय शासन संस्थाएँ होनी

चाहियें और उनका अधिकारक्षेत्र काफी विस्तृत होना चाहिये। दायित्व ही चरित्रके उदात्त गुणोंको उभारता है। शासनके दायित्वमें जितने ही अधिक मनुष्य किसी न किसी रूपमें सम्मिलित किये जा सकेंगे उतना ही उस समाजमें चरित्रका उत्कर्ष बढ़ेगा और स्वतन्त्रतापर प्रहार होना कठिन होगा। जितना ही अधिकार थोड़ेसे हाथोंमें रक्खा जायगा उतना ही उसका छिन जाना सुगम होगा।

इसी न्यायसे यह भी सिद्ध होता है कि शासनपद्धतिका उपयोग कुछ भी हो, पर उसे लोकतन्त्रात्मक होना चाहिये। शासकोंको समय समय पर बदलते रहना चाहिये और उनके लिये प्रजाको तुष्ट करना आवश्यक होना चाहिये। शासितोंके हाथमें अपने शासकोंको चुनने और उनपर अविश्वास उत्पन्न होनेपर पृथक् करनेका अधिकार होना चाहिये। जनताको यह प्रतीत होना चाहिये कि यह शासक ईश्वरके नायब नहीं हैं, न इनको हमारे ऊपर शासन करनेका कोई नैसर्गिक हक है, इनका शासक रहना न रहना हमारे ऊपर निर्भर है। इस विश्वाससे लोगोंका आत्मविश्वास बढ़ता है और वह स्वाधीनताकी कद्र करते हैं।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आजकलकी लोकतन्त्र पद्धतियाँ किसी भी अर्थमें आदर्श हैं। किसी भी समयमें शासन हँसी खेल नहीं होता। आजकल तो यह काम और भी कठिन हो गया है। ज्ञान और धैर्य, अनुभव और शौर्यकी

शासकमें बहुत बड़ी मात्रा चाहिये। उसका चरित्र बलवान् होना चाहिये, क्योंकि पदे पदे प्रलोभन सामने आते हैं। इसलिये सबको यह काम नहीं सौंपा जा सकता। समाजमें जो बड़ी ही शुद्ध बुद्धिवाले मनुष्य हों उनपर ही यह बोझ डालना चाहिये। जिन्होंने कर्म्मणा अपने लोकसंग्रह भाव और लोकसेवा योग्यताको प्रमाणित किया है वही शासक होनेके पात्र हैं। आज जो लोग किसी चुनावके लिये खड़े होते हैं उनमें और चुननेवालोंमें योग्यताका कोई भेद नहीं होता, यह ठीक नहीं। चुननेका अधिकार तो बहुत लोगोंको होना चाहिये, पर चुने जाने योग्य थोड़े ही होते हैं।

भारतकी वर्णव्यवस्थाने एक अच्छा प्रबन्ध किया था। त्रिवर्णमें भौतिक सम्पत्ति और प्रतिष्ठाका बँटवारा एक विशेष नीतिके अनुसार किया गया था। वैश्यके पास सम्पत्ति थी पर न अधिकार था न सम्मान, क्षत्रियके पास अधिकार था लेकिन न अधिक धन था न अधिक सम्मान, ब्राह्मणके पास सम्मान था, परन्तु न धन था न शासनाधिकार। आज कलके समाजमें यह बड़ा दोष है कि एक ही व्यक्ति धन, शासनाधिकार और प्रतिष्ठाका उपभोग करता है। इससे दूसरोंको दबानेकी उसकी सामर्थ्य बढ़ जाती है। आज कल पुरानी पद्धतिकी ठीक ठीक नकल तो नहीं की जा सकती, न अफलातूनकी रायका ही पूरा पूरा पालन हो सकता है, परन्तु राजका सञ्चालन तभी ठीक होगा जब शासन करना रुपया कमानेका द्वार न बन जाय। जो शासक हैं उनकी

आवश्यकताओंकी पूर्ति होनी चाहिये, पर इस पदपर यथा सम्भव योग्य, अनुभवी, निःस्वार्थ और तपस्वी लोगोंको ही चुनना चाहिये। चुनावके लिये भी ऐसे तरीके निकालने होंगे जिनसे ऐसे लोग चुने जायँ क्योंकि ऐसे लोग स्वयं अपने लिये वोट माँगते फिरेंगे इसकी कम ही सम्भावना है।

शासकोंके चुननेका चाहे जो उपाय किया जाय, परन्तु यह परमावश्यक है कि उनको यह बात भूलने न पाये कि वह प्रजाके सामने दायी हैं। इसका यही उपाय है कि उनको कुछ कुछ समयके बाद जनताके सामने आना पड़े और जनताको यह अधिकार हो कि उन्हें बदल सके। ऐसा न होना चाहिये कि नित्य छोटी छोटी सी बातपर शासक बदल दिये जायँ पर यह स्पष्ट होना चाहिये कि उनका काम अच्छा है या बुरा इसका अन्तिम निर्णय शासित ही कर सकते हैं। ऐसी ही अवस्थामें व्यक्ति राज्यके कामोंका दायित्व अपने ऊपर ले सकता है। उसको अपने शासकोंको चुननेका अधिकार है और काम ठीक न होनेपर पृथक् करनेका अधिकार है। यदि वह इस अधिकारसे काम नहीं लेता तो इसका यही अर्थ हो सकता है कि वह शासकोंके कामसे सन्तुष्ट है और उनका समर्थन करता है, अतः उनके कामोंकी जिम्मेदारी स्वयं ओढ़नेको तैयार है। अनुत्तरदायी शासन पद्धति अच्छेसे अच्छे शासकोंकी बुद्धिको अधिकार-मदके नशेमें चूर करके भ्रष्ट कर सकती है। अपने शासकोंको बेलगाम छोड़ देना, चाहे वह कितने ही भले क्यों न हों, अपने

पाँवमें आप कुल्हाड़ी मारनेके बराबर है।

नोट—एक और चीज है जो मेरी समझमें व्यक्तिकी स्वाधीनताकी बाधक है। वह है पूर्ण प्रभु राजोंका अस्तित्व। अभीतक इस ओर विद्वानोंका ध्यान नहीं गया था। ऐसा समझा जाता था कि राजकी शोभा इसी बातमें है कि वह पूर्ण प्रभु, पूर्णतया स्वाधीन हो और व्यक्तिका गौरव भी ऐसे ही राजका नागरिक होनेमें माना जाता था। एक राजका दूसरे राजके, एक राष्ट्रका दूसरे राष्ट्रके, एक देशका दूसरे देशके अधीन होना केवल लज्जाकी बात ही नहीं है। शोषण शोषक और शोषित दोनोंको तबाह करता है और उससे उत्पन्न हुए दोष—साम्राज्यशाही, कलह, अशान्ति—मनुष्य समाजमात्रको खराब करनेवाले हैं। जो ऊपरसे तटस्थ रहता है, उसपर भी इनका कुप्रभाव पड़ता है। परन्तु पृथक् पृथक् पूर्ण स्वतन्त्र राजोंका होना भी उन्नतिका साधक नहीं है। प्रत्येक राजको अपने पृथक् हितको सँभालनेमें दूसरेके हितोंको क्षत करना पड़ेगा। यह हो ही नहीं सकता कि कभी न कभी हित और स्वार्थ न टकरायें। परिणाम यह होता है कि राजोंकी वैदेशिक नीति नागरिकोंके स्वत्वोंपर कुछ न कुछ आघात अवश्य करती है। युद्धकालमें तो स्वाधीनताका प्रायः लोप ही हो जाता है। युद्धकी तैयारीके बहानेसे शासक प्रजाके बहुतसे अधिकारोंको थोड़ा-बहुत दबा लेते हैं। यदि कोई व्यक्तिकी स्वाधीनताके नामपर आपत्ति करता है तो वह राजद्रोही या देशद्रोही कहकर ठुकरा दिया जाता है। राष्ट्रीयताकी मोहक मदिरा पिलाकर चतुर शासक जनतासे जो चाहते हैं करा लेते हैं। इसीसे किसीने कहा है कि राष्ट्रीयता आजकलकी

सभ्यताका एक रोग है। इस रोग का परिणाम आज हमारे सामने है। विज्ञानकी शक्ति नरसंहारमें लगायी जा रही है। मनुष्य समाज महायादवीयके द्वारा आत्महत्याकी तैयारी कर रहा है।

अब कुछ लोग यह समझने लगे हैं कि इसका एक उपाय यह है कि स्वतन्त्र, प्रभु राजोंका अस्तित्व मिटा दिया जाय। न एक राज दूसरेके अधीन रहे, न दूसरेसे पृथक्। सब राजोंका एक संघ हो। वह पृथ्वीका वास्तविक शासक हो। युद्धका कोई अवकाश न रह जाय।

यह चित्र अपूर्ण है। इसको भरते समय 'राज' की व्याख्या कुछ और भाँति करनी होगी, ताकि जो जनसमुदाय आज किसी ऐसे राजके अन्तर्गत हैं जिसमें वह असन्तुष्ट हैं वह भी भावी संघमें स्थान पा सकें। संघ वस्तुतः राजोंका नहीं मनुष्यमात्रका होना चाहिये। यह संघ पृथ्वीका, पृथ्वीकी सारी वानस्पतिक और खनिक विभूतिका, स्वामी होगा। पृथ्वीपर जो कुछ उत्पन्न होता या बनाया जाता वह किसी एक देशके निवासियोंके नहीं वरन् मनुष्यमात्रके उपभोगकी सामग्री होगा। उस समय वैदेशिक नीति या राष्ट्रीयता या देशसेवाका कोई प्रश्न हो नहीं होगा। मनुष्य विश्वका नागरिक होगा। इस दशामें उसकी नैसर्गिक स्वतन्त्रताओं पर के बहुतसे बन्धन कट जायँगे और उसकी स्वाधीनता उसी परिमाणमें बढ़ जायगी।

१०

स्वाधीनता

(ग) अनुकूल सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था

स्वाधीनताके उपभोगके लिये सामाजिक व्यवस्थामें भी कुछ विशेषता होनी चाहिये। मैं पहिले कह आया हूं कि समाजमें कोई ऐसा वर्ग न होना चाहिये जिसको विशेष अधिकार प्राप्त हों। वहाँ तो मेरा लक्ष्य राजनीतिक विशेषाधिकारोंकी ओर था परन्तु वही दोष आर्थिक और सामाजिक विशेषाधिकारोंमें भी है। अमुक वर्ग या जातिके लोग जमीन मोल न ले सकें या अमुक मुहल्लेमें न बस सकें या अमुक व्यवसाय न कर सकें, कुएँसे पानी न भर सकें, सार्वजनिक स्थानोंमें दूसरोंके साथ न बैठ सकें, दूसरोंको छू न सकें, इत्यादि ऐसी बातें हैं जो कुछ लोगोंको विशेष अधिकार देती हैं और बहुतसे लोगोंको सामान्य नैसर्गिक मानव अधिकारोंसे वंचित रखती हैं। ऐसी विषमतासे दोनोंका पतन होता है। जो ऊँचा बना फिरता है वह अधिकारोंको तो याद रखता है, पर कर्तव्योंको भूल जाता है, फलतः

उसमें वह विशेष गुण रह ही नहीं जाते जिनके कारण पहिले कभी उसके पूर्वजोंने वह अधिकार प्राप्त किये थे। जो नीचा समझा जाता है वह निराधिकार जीवनको नीरस पाता है और तमोमयी प्रवृत्तियोंकी मूर्ति बन जाता है। एक ओर झूठा अभि-मान, दूसरी ओर जाड्य—दोनों मिलकर समाजकी नावको डुबा देते हैं। इसलिये राजके जीवनको सुचारुरूपसे चलानेके लिये समाजमें समता—बराबरी—होनी चाहिये।

समताका वाच्यार्थ समझना आवश्यक है। सब मनुष्य जन्मना बराबर नहीं हैं। शारीरिक और मानसिक बलोंमें, योग्यताओंमें बहुत बड़ा भेद है। जो काम एक कर सकता है उसे दूसरा कदापि नहीं कर सकता। आजकल जहाँ एक ओर झूठी विषमता है वहाँ दूसरी ओर कृत्रिम समता भी है। एक ओर तो यह व्यवस्था है कि कुछ लोग किसी कुल या जाति विशेषमें जन्म लेने मात्रसे ऊँचे अधिकार और प्रतिष्ठा, पद, इत्यादिके भाजन समझे जाते हैं और दूसरे बेचारे जन्मदोषके कारण सुखसे रहनेके भी पात्र नहीं समझे जाते। दूसरी ओर ऐसा मान लिया जाता है कि सभी लोग राजव्यवस्था जैसे गूढ़ प्रश्नके पण्डित हैं। अतः सभी लोगोंको न केवल मत देनेका वरन् व्यवस्थापक संस्थाओंके लिये चुने जानेका अधिकार है।

यह दोनों बातें कृत्रिम हैं और समाजके लिये हानिकारक हैं। जो सहज स्वाभाविक भेद है वह मिट नहीं सकता। उसके अस्तित्वको मानकर जो जिस योग्य हो उसको वह काम देना

चाहिये। बराबरीका ठीक अर्थ है अवसरकी बराबरी। जिसमें जैसी योग्यता हो उसको उस योग्यताको प्रस्फुटित करनेका अवसर मिलना चाहिये। ऐसा न हो कि कोई जीवनके घुड़दौड़में दौड़नेसे ही रोक दिया जाय। सब अपनी अपनी योग्यताकी परीक्षा कर लें, फिर जो जिस कामके योग्य हो उसमें लग जाय। ऐसी व्यवस्था न होनेसे जो जिस कामके योग्य होता है उसको वह काम नहीं मिलता, कामको जैसा मनुष्य चाहिये वैसा मनुष्य नहीं मिलता। उभयतः समाजकी क्षति होती है।

इस भावके मिटानेकी बहुत बड़ी आवश्यकता है कि कोई काम ऊँचा, कोई नीचा, या यों कहिये कि किसी कामको करनेवाला ऊँचा, किसीका करनेवाला नीचा है। सब कामोंके लिये एकसी शारीरिक या मानसिक योग्यता नहीं चाहिये; सबके करनेके लिये तैयार होनेमें एकसा समय या श्रम नहीं लगता; सबके द्वारा समाजकी एकसी सेवा नहीं होती, इसलिये तारतम्य है और रहेगा। मजदूरी, वेतन, सम्मान आदिके रूपमें सबको एकसा पुरस्कार नहीं मिल सकता। परन्तु जो भी अपने परिश्रमकी कमाई खाता है, जो भी समाजिक उपयोगका काम करता है वह नीच नहीं है। चतुर धोबी बननेकी अपेक्षा विज्ञानका अध्यापक बनना अधिक कठिन है। और सबका काम नहीं है। अध्यापक अपनी शिक्षासे और आविष्कारोंसे लाखों, करोड़ों मनुष्योंका उपकार कर सकता है परन्तु धोबीका क्षेत्र छोटा है। लोग धोबीको भूल सकते हैं पर अध्यापकका नाम

अमर हो सकता है। इसलिये समाजमें अध्यापकको बड़ा माना जाना अस्वाभाविक नहीं प्रत्युत सर्वथा उचित है। परन्तु धोबी का जीवन निन्द्य नहीं है। अपने जीवनके आरम्भमें हर लड़के को इस बातका अवसर मिलना चाहिये कि वह देख ले कि उसमें धोबीकी योग्यता है या अध्यापक की। धोबीके बच्चेको धोबी ही रहनेपर विवश करके समाज कई अच्छे अध्यापकोंको खो बैठता है। जबतक कामोंके विषयमें ऊँच नीचका भाव बना रहेगा तबतक पूरी पूरी सामाजिक समता नहीं कायम हो सकती।

परन्तु राजनीतिक और सामाजिक समता पर्याप्त नहीं है। यूरोपके कई देशोंमें इस प्रकारकी समता है। यदि हबशियोंकी ओरसे आँख मोड़ ली जाय तो अमेरिकाके संयुक्त राज्में ऐसी विषमताके निराकरणमें बहुत ही उन्नति हुई है। किसी जाति या कुलके लिये किसी व्यवसायका द्वार बन्द नहीं है, विद्यालयोंमें पढ़नेका सबको हक है। चुनने और चुने जानेके लिये जाब्तेसे किसीके लिये कोई रोक नहीं है। परन्तु यह सब होनेपर भी अमेरिकामें स्वाधीनता नहीं है। कुछ लोगोंके हाथमें फिर भी ज्यादा अधिकार आ जायँगे।

जहां और बातोंमें विषमता मिटानेकी आवश्यकता है वहाँ आर्थिक विषमता भी मिटानी होगी। आर्थिक समताका अर्थ 'अवसरकी बराबरी' मात्र नहीं है। ऐसी बराबरी तो एक प्रकारसे बहुत लोगोंको अब भी प्राप्त है। वह चाहे जिस

पेशेमें जा सकते हैं और अपनी योग्यताकी परीक्षा कर सकते हैं। समताका अर्थ यह भी नहीं है कि सबको एकसा पुरस्कार मिले। सच्ची आर्थिक समता इस बातमें है कि कोई अपनी आर्थिक शक्तिके द्वारा किसी दूसरेको अपनी स्वार्थ साधनाका औज़ार न बना सके और प्रत्येक ऐसे मनुष्यकी जो परिश्रम करनेको तैयार है आवश्यकताओंकी पूर्ति हो। इस सम्बन्धमें काफी विचार करनेके बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि सच्ची समताके लिये यह आवश्यक है कि सभी देशोंमें समाजवादी ढंगकी व्यवस्था क़ायम की जाय।

रुपयेकी ऐसी शक्ति है कि उसके आगे और सभी शक्तियाँ झुक जाती हैं। पैसेवाले वैज्ञानिकोंको, लेखकोंको, कवियोंको, ग्रन्थकारोंको, अध्यापकोंको, धर्म्माचार्य्योंको खरीदते हैं। बड़े-बड़े सर्कारी कर्मचारी, राष्ट्रोंके मन्त्रिगण और राष्ट्रपति, राजा-महाराजा, राजनीतिक दलोंके नेता, उनके इशारोंपर काम करते हैं। धनिक लोग आप पीछे रहते हैं, उनकी कठपुतलियाँ काम करती हैं, यश अपयश लेती हैं। धनिक जब चाहते हैं तब लड़ाई छिड़ती है, जब चाहते हैं तब बन्द होती है। यह धन कैसे जमा होता है इस प्रश्नपर यहाँ विचार नहीं हो सकता। जिन लोगोंको इसका शौक हो वह समाजवादका गहिरा अध्ययन करें। इतना तो सबके प्रत्यक्ष अनुभवमें है कि बड़ी जायदादें अपने निजी मस्तिष्क और शरीरके श्रमसे नहीं पैदा की जातीं। कोई मनुष्य अपनी गाढ़ी कमाईमेंसे थोड़ा-थोड़ा

बचाकर जितना मरनेके दिनतक बटोर सकता है उससे कहीं अधिक कुछ लोग घण्टे आध घण्टेके सट्टोंमें कमा लेते हैं। जो एक आदमीका जेब काटता है वह जेल जाता है; जो हजारोंके जेब एक साथ काटता है वह नगरसेठ कहलाता है। करोड़ों रुपयेका व्यवसाय हो रहा है परन्तु उसका उद्देश्य समाजका नहीं प्रत्युत थोड़ेसे व्यक्तियोंका हित है। कल कारखाने खुले हैं, पण्य* तैयार हो रहे हैं, परन्तु इसलिये नहीं कि लोगोंकी आवश्यकताकी पूर्ति हो वरन् इसलिये कि थोड़ेसे लोगोंको लाभ हो। बाजारमें कपड़ा भरा है पर लाखों आदमी नंगे घूमते हैं, लाखों बच्चे-बूढ़े सर्दीमें ठिठुरकर मर जाते हैं। मुसीबत यह है कि जो धन इस प्रकार जमा किया जाता है वह भोगमात्रकी सामग्री नहीं होता, परन्तु पूँजीके रूपमें प्रजनक धन बनता है, और धन उत्पन्न करनेके काममें आता है। जो पूँजीपति है वह अपनी पूँजीके अनुपातसे हजारों, लाखों मनुष्योंकी मानस और शारीरिक शक्तियोंका अपने स्वार्थके लिये उपयोग करता है। उसके अधीन काम करनेवालोंका श्रम ही उसकी जेब भरता है, पर श्रमिक अपना

* पण्य उस भोग्य वस्तुको कहते हैं जो मनुष्यकी किसी आवश्यकताकी पूर्ति करती हो, पूर्णतया या अंशतः मनुष्यके श्रमसे तैयारकी गयी हो और जो अपने व्यवहारमें न लायी जाकर इसी प्रकारकी दूसरी वस्तुओंके बदले दी जाती हो। मोटे तौरसे पण्य वह वस्तु है जो बाजारमें बिकती है।

पूरा पारिश्रमिक नहीं पाता, उसे पेट भरनेको मिल जाय यही बहुत है। उसके लिये सम्भव नहीं है कि पूँजीपतिके मुकाबिलेमें टिक सके क्योंकि वह तो लाभ न होनेपर भी अपने सञ्चित कोषसे काम चला सकता है पर यह और इसके बालबच्चे तो भूखे मरने लगते हैं। आज सङ्गठनके द्वारा श्रमिकोंकी दशा पहिलेसे कुछ सुधरी है फिर भी यह विचित्र बात बनी हुई है कि जो श्रम करता है वह विपन्न रहता है, जो श्रम नहीं करता वह सम्पन्न है। फिर एक दूसरी मुसीबत भी है। यदि यह मान लिया जाय कि पूँजी बटोरनेमें जिस कुटिल बुद्धिसे काम लिया जाता है वह भी एक प्रकारकी योग्यता है, जिसका पुरस्कार मिलता ही चाहिए तब भी यह तो अन्याय प्रतीत होता है कि पुरस्कार कई पीढ़ियोंतक चला जाय। कोई व्यक्ति इसलिये अध्यापक या सेनापति नहीं बनाया जाता कि उसका बाप अध्यापक या सेनापति था, फिर पिताकी कमायी हुई सारी सम्पत्ति बेटेको क्यों ज्यों की त्यों मिल जाय? यह फिर भी स्मरण रखना चाहिये कि सम्पत्ति केवल भोगका साधन नहीं है। यदि इतना ही होता तो सन्तोष कर लिया जाता। सम्पत्ति भोगसे बढ़कर शोषण का, दूसरे मनुष्योंके सुख-दुख पर अधिकार रखनेका, दूसरोंको अपनी स्वार्थ सिद्धिके उपकरण बनानेका, बड़ा साधन है। सम्पत्तिके द्वारा कुलस्त्रीकी लज्जा, विद्वान्की विद्या, राजपुरुषोंकी शक्तिकी नकेल अपने हाथमें आती है।

यदि बहुतोंकी स्वतन्त्रता मुट्ठीभर स्वार्थियोंकी मर्जीपर नहीं छोड़ना है तो इस अवस्थाको खतम करना होगा। पूँजीको निजी अधिकारसे निकालकर समाजके हाथमें रखना होगा अर्थात् उत्पादन, विनिमय और वितरणके मुख्य साधनोंको निजी सम्पत्ति न रहने देना होगा। लोग अपनी अपनी योग्यता-के अनुसार पारिश्रमिक पावें और उसको भोगमें--खाने-पहिनने पढ़ने-लिखने, खेल तमाशेमें लगावें, यह अनुचित नहीं है पर उसको शोषणका साधन न बना सकें। समाज पूँजीका मालिक हो और उससे लाभ उठावे यह भी उतना ही उचित है। कोई व्यक्ति अपनी सन्तानके लिये कितना छोड़ जाय इसपर भी नियन्त्रण होना चाहिये।

इस व्यवस्थासे न तो बड़े व्यवसायोंके सञ्चालनमें कोई बाधा पड़ेगी न छोटे व्यवसायों या कला-कौशलके मार्गमें कोई रुकावट पड़ेगी। केवल इतना ही होगा कि जो लोग समाजको अपनी स्वार्थसिद्धिका साधन बना लेते हैं, उनकी कुचेष्टाएँ निःसन्देह रुक जायंगी। जो विभूति उसके पास जमा होती थी वह अब समाजकी सम्पत्ति होगी और जन साधारणकी शिक्षा, स्वास्थ्योन्नति, मनोरञ्जन इत्यादिमें लगायी जायगी।

पूँजीशाही व्यवस्था साधारणतः लोगोंके चरित्रको बड़ा दुर्बल बना देती है। मै कुछ नहीं हूँ, यह भाव होना ही बुरा है। भाग्य कहिये, प्रारब्ध कहिये, मनुष्यकी कुटिलता कहिये, कारण चाहे जो हो, उसने एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी है

जिसने हमको चारों ओरसे जकड़ लिया है। लाख सिर मारने-पर भी इस बन्धनको तोड़ना या ढीला करना असम्भव है। अतः इससे सिर टकराना व्यर्थ है। अतः हम भी अपनेको इसी सांचेमें क्यों न ढालें। जब ईमानदारी, न्याय, धर्म्म, परार्थका नाम लेना मूर्खता है, स्वार्थकी सिद्धि ही मनुष्यका चरमलक्ष्य है, येन केन प्रकारेण धन कमाना ही सुखका, अपनी उमङ्गोंको पूरा करनेका साधन है, दूसरोंके हितोंको कुचल डालना ही सफलता-की सीढ़ी है, तो सभी इसी ओर झुकेंगे। जिस समाजमें रुपये-की थैली ही सम्मानकी कुञ्जी होगी वहाँ उदात्त गुणोंको कौन पूछेगा? वहाँ तो धनिकोंको, धनकी पूजा होगी; जो लोग अपने चरित्रकी आत्मनिर्भरताको फेंक कर धनिकोंकी दर्बारदारी करना स्वीकार करेंगे वह स्वयं भी धनोपर्जन और मानोपार्जनके मार्ग पर चलने लगेंगे, उनकी उन्नति होगी; जो लक्ष्मीवाहनोंके सामने अपना सिर झुकानेको तैयार न होंगे वह कुचल डाले जायंगे।

ऐसी परिस्थिति सच्ची स्वाधीनताके लिये घातक है। धनिक वर्ग अपने हितों को जानता है। वह जिस आन्दोलनको जिस विचारधाराको अपने अनुकूल समझेगा उसको अपने पैसोंसे पुष्ट करेगा; जिसको प्रतिकूल समझेगा उसको पैसोंके बलसे दबानेका यत्न करेगा और यदि इससे काम नहीं ही चला तो राजशक्तिके सहारेसे दमन करायेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि इस व्यवस्थाका अन्त हो। किसीके पास

दूसरोंको शोषित करनेकी, दूसरोंको खरीद लेनेकी, शक्ति और अवसर न रहे, यही आर्थिक समता है और इसकी बड़ी आवश्यकता है।

११

तत्परताकी सीमा

ड्युपाँने अपनी पुस्तक ल 'ऑदिविद्यु एल' एता (व्यक्ति और राज) में लिखा है कि व्यक्तिकी दुर्बलता और नीचताके कारण सभ्यताके सभी मार्ग अवरुद्ध रहते हैं। भाषा तो सुननेमें कड़ी है पर बात सच है। चाहे जिस संस्था, जिस संघटन को लिया जाय, अन्ततोगत्वा उसके अवयव व्यक्ति ही हैं। यदि अंगी बुरा है तो अङ्गोंमें दोष अवश्य होगा। दोनोंमें अन्योन्याश्रय है। अंगीका दोष अंगोंको दूषित बनाता है, इसी प्रकार अङ्गोंका दोष अङ्गीको दोषी बनाता है। अङ्गी अर्थात् राजको ठीक अवस्था-में रखनेके लिये जिन बातोंकी आवश्यकता है उनमेंसे कुछका उल्लेख पिछले तीन-चार अध्यायोंमें हुआ है, परन्तु कोई भी शासन-पद्धति, कोई भी कानून, अपनेसे काम नहीं करता। उससे काम लेनेवाले और लाभ उठानेवाले व्यक्ति ही होते हैं। किसी अच्छी व्यवस्थाको कायम करना कठिन काम है पर उसको अक्षुण्ण बनाये रखना उससे कहीं कठिन काम है।

मैं पहिले भी लिख आया हूँ कि स्वाधीनताका मूल्य सतर्कता है। लोगोंको छोटी-छोटी बातों पर ध्यान रखना होगा। बचपनसे ही स्वाधीनताके महत्त्वका पाठ पढ़ाना होगा, बचपनसे ही स्वतन्त्रताका अभ्यास कराना होगा। अपने अधिकारोंका पूरा पूरा उपयोग करना होगा। जो लोग अपने नागरिक अधिकारोंसे काम लेनेके विषयमें उदासीन हैं, जिनको अपने मताधिकारसे काम लेने या सर्कारी कुनीतिका विरोध करनेका शौक नहीं है, वह स्वाधीनताके पात्र नहीं है। यदि जनताका बड़ा अंश ऐसा ही है तो वहां स्वाधीनघता अवश्य लुप्त हो जायगी। यदि किसी समाजमें अनुभवी, विद्वान् , निर्लेप मनुष्य शासनका दायित्व लेनेको, सार्वजनिक काम करनेको तैयार नहीं होते तो उसकी अवनति अवश्यम्भावी है, क्योंकि शासन तो किसी न किसी प्रकार चलेगा ही, उसकी डोर स्वार्थी लोगोंके हाथोंमें चली जायगी। यदि स्वाधीनता वस्तुतः मूल्यवान चीज है और उसकी रक्षा करनी है तो प्रत्येक व्यक्तिको तत्पर रहना पड़ेगा और अपनेको उसका रक्षक समझना पड़ेगा।

स्वाधीनताकी रक्षामें कहांतक तत्परता की जाय? दूसरे शब्दोंमें, राजका सक्रिय विरोध कहाँतक किया जाय? तत्परताके लिये कोई सीमा नहीं निर्धारित हो सकती। स्वाधीनता खोयी नहीं जा सकती, इसलिये उसको बचानेके उपायमें सुस्ती नहीं की जा सकती। पत्रों और सभाओंके द्वारा राजकी आलोचना करनी होगी; व्यवस्थापक सभाओंमें और चुनावके अवसरपर

शासकोंकी भूलोंको दिखलाना और उनको सुधरवाना, यदि आवश्यक ही हो जाय, तो शासकोंको ही बदलवाना—यह सब तत्परताका अङ्ग है। यह सब उपाय वैध हैं। यदि यह सम्भव न हो तो सर्कारकी आज्ञाको न मानना, आज्ञा भंग करना भी उचित है। इसका दूसरा नाम असहयोग है। जो व्यक्ति इस प्रकार असहयोग करता है वह राजकी सारी बातोंसे असन्तुष्ट नहीं है, कुछ बातोंको खराब समझता है, अतः शेष बातोंमें वह राजके अस्तित्वको मानता है और उसकी आज्ञाका पालन करता है। यूनानी दार्शनिक सुकरातने एकसराजकी अवज्ञा की और इसके दण्डमें राजकी ओरसे दिया गया विषका प्याला सहर्ष पी लिया। लोग उनको बचा कर निकाल ले जाना चाहते थे, राजके अधिकारी भी पीछा न करते क्योंकि वह सुकरातके साथ कानून बरतकर कुछ बहुत सुखी नहीं थे पर सुकरात न गये। उन्होंने कहा कि मैंने कर्तव्यबुद्धिसे अवज्ञा की है; यह भी मेरा कर्तव्य है कि राजाज्ञाको शिरोधार्य करके दण्ड सहन करूँ। भारतमें भी हजारों असहयोगियोंने असहयोग और सत्याग्रह किया, फिर अपनेको बचानेका प्रयत्न न करके हँसते-खेलते सर्कारी दण्डनीतिको अपने ऊपर चलने दिया।

पर कभी-कभी इसके भी आगे जानेकी आवश्यकता पड़ सकती है। राजका सारा क्रम इतना बिगड़ सकता है कि छोटी-छोटी मरम्मतसे काम न चले, आमूल उलट-फेरकी

जरूरत देख पड़े। ऐसे अवसर आये हैं। उस समय जिसको ऐसी प्रतीति हो उसका कर्तव्य है कि राजकी शुद्धिका प्रयास उठाये। यदि राजका चूड़ान्त संस्कार करना है, उसकी परिचालनपद्धति बदलनी है, तो आयोजन भी वैसा ही करना होगा। अधिकारियोंकी ओरसे जैसा तीव्र विरोध होगा दूसरे ओरसे वैसी ही कड़ी आलोचना होगी। आन्दोलनकी प्रगति दमनकी उग्रताके साथ बढ़ती है। कभी-कभी क्रान्तिका उद्योग करना अधिकार ही नहीं कर्तव्य हो जाता है। सभ्य जगत्के इतिहासमें शान्त विकास युगोंके बीच-बीचमें जो क्रान्तिकाल आये हैं उनका बहुत [illegible]ड़ा महत्त्व है। शान्ति अच्छी चीज़ है। उसको प्राप्त करने और प्राप्त करनेके बाद क़ायम रखनेके लिये बहुत कुछ त्याग करना चाहिये। परन्तु शान्ति तभीतक अच्छी है जबतक उससे मनुष्य जीवनके मूल लक्ष्योंकी सिद्धि हो; जो शान्ति नीचे गिराती है उसको तो खत्म ही कर डालना चाहिये। श्मशानकी शान्तिको दूर करनेके लिये जो अशान्ति, क्रान्ति मोल लेनी पड़े वह भी श्रेयस्कर है।

परन्तु यह भी निश्चित है कि कोई समझदार आदमी हल्कीसी बातपर इस प्रकार आगसे न खेलेगा। सभी अन्य उपायोंसे काम लेना चाहिये। जो शासक हैं उनके दृष्टिकोणको समझनेका प्रयत्न करना चाहिये, उनकी कठिनाइयोंपर विचार करना चाहिये। केवल अपनी बुद्धिके दुरभिमानमें जल्दीसे कोई ऐसा काम न ठान देना चाहिये जिसका तात्कालिक परि-

णाम सैकड़ों या हजारोंके सुख-दुखपर पड़ सकता है। बहुत-सी बातोंमें समझौतेकी नीतिसे काम लेना ही चाहिये, बहुमतके सामने झुक जाना ही चाहिये। परन्तु कोई ऐसा अवसर आ जाता है जब अपना चित्त यह कहता है कि राज मौलिक स्वत्वोंपर आघात करने जा रहा है, स्वाधीनताकी विनष्टि होने जा रही है। सम्भव है अब भी अपनी ही भूल हो, पर हमारे पास सत्यासत्य, उचितानुचितमें विवेक करनेके लिये अपनी बुद्धिके सिवाय कोई दूसरा साधन नहीं है। दस बार तौलें, यह ठीक है पर तुला हमारी बुद्धि ही है इसीपर हम वेद और पुराण, ईश्वर और जीव, न्याय और अन्याय, सबको तौलते हैं। जब विपुल विचारके पीछे भी हमारी बुद्धि राजके किसी कार्य्यको या राजकी तत्कालीन व्यवस्थाको समीचीन न पाये फिर तो हमारे लिये इसके सिवाय कोई उपाय नहीं है कि बुद्धिका अनुसरण करें। सम्भव है हम गलती कर रहे हों परन्तु नेकनीयतीसे, सचाईसे, अपनी बुद्धिके अनुसार जो उचित प्रतीत हो उसका अनुगमन करना अच्छा है, दुर्बलतासे उसको छोड़ देना अच्छा नहीं। ज्ञानकी कमी क्षम्य हो सकती है, परन्तु स्वार्थपरता और नैतिक कायरता अक्षम्य अपराध हैं। हममें बुद्ध और शंकर, ईसा और मुहम्मद जैसा ज्ञान और तप न हो, परन्तु उनके जीवनसे इतना तो सीखना चाहिये ही कि कभी-कभी अच्छी बातको सोचने और कहने तथा करनेवाला अकेला होता है। जब

अमेरिकामें आजसे लगभग सौ वर्ष पहिले गुलामी प्रथाको उठा देनेका आन्दोलन चला था उस समय विलियम लॉयड गैरिज़नने यह वाक्य कहे थे "मैं सत्यकी तरह रूखा और न्यायकी भाँति अटल रहूँगा। इस सम्बन्धमें मैं नरमीके साथ न सोचना चाहता हूँ, न बोलना चाहता हूँ, न लिखना चाहता हूँ। नहीं, नहीं। तुम चाहो तो उस मनुष्यसे जिसके घरमें आग लगी हो नरमीसे शोर करनेको कह सकते हो; तुम चाहो तो उस पुरुषसे जिसकी पत्नीपर कोई बलात्कार करने जा रहा है, उसको नरमीके साथ छुड़ाने को कह सकते हो; तुम चाहो तो उस माताको जिसका बच्चा आगमें गिर पड़ा है, उसे नरमीसे निकालनेको कह सकते हो, परन्तु इस काम (दासताको बन्द करने) में नरमी करनेके लिये मुझसे मत कहो। मैं दृढ़ हूँ, मैं इधर-उधरकी बात नहीं करूँगा, मैं क्षमा नहीं करूँगा। मैं पीछे नहीं हटूँगा। लोगोंको मेरी बात सुननी पड़ेगी। लोगोंमें ऐसी जड़ता छायी हुई है कि मूर्तियाँ भी अपने सिंहासनों परसे (घबराकर) उछल पड़ें और प्रलयका दिन जब कि मुर्दे भी जी उठते हैं निकट आ जाय।"

जो मनुष्य अपने सिद्धान्तोंके लिये ऐसी लगन रखता है वही सच्चा मनुष्य है, उसके ही हाथोंमें मनुष्यकी स्वाधीनता सुरक्षित रहेगी। हम बहुत दिनोंसे सुनते आये हैं—न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः—धीर पुरुष न्याय्यपथसे एक पद भी विचलित नहीं होते। इसका अर्थ यह है कि वह अन्याय पथ

पर, अपने क्षुद्र स्वार्थ-साधनके पथ पर, अपनी हठ बनाये रखनेके लिये, झगड़ा मोल नहीं लेते। जो व्यक्ति अपने लिये कुछ नहीं चाहता वही समाजमें अन्याय, अनाचार, शोषण परतन्त्रता देखकर क्षुब्ध, अधीर हो उठता है और लोकसंग्रह-के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर सकता है। ऐसा ही मनुष्य सच्चा कर्मयोगी, निष्काम कर्मी है। ऐसे ही मनुष्योंकी उत्कृष्ट बुद्धि और त्यागनिष्ठाने मनुष्य समाजमें स्वाधीनताको विलुप्त होनेसे बचाये रक्खा है।

१२

राज और आत्मज्ञान

मैंने सातवें अध्यायमें दिखलाया था कि मनुष्य अविद्यासे अभिभूत होनेके कारण अपने वास्तविक रूपसे दूर पड़ गया है पर यह भीतरी आग बुझी नहीं है। वह स्वरूपके ज्ञानके लिये सदा भूखा रहता है। असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतङ्गमय' एक ऐसी पुकार है जो प्रत्येक हृदयसे उठती रहती है। मैंने वहीं यह भी बतलाया था कि जिन संस्थाओंके द्वारा मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है उनमें राजका भी ऊंचा स्थान है। परन्तु राज इस कामको प्रत्यक्षरूपसे नहीं करता। अफलातूनका यह स्वप्न कि शासकगण तपस्वी दार्शनिक हों स्वप्न ही रह गया। विदेहसे राज, श्रीकृष्णसे राजपुरुष, विद्यारण्यसे अमात्य बहुत थोड़े होते हैं। परन्तु यदि राज अपने कर्तव्योंका पालन करे तो वह सत्यकी अनुभूतिका प्रबल सहायक हो सकता है।

जो बहुत उत्कृष्ट कोटिके अधिकारी हैं उनकी तो बात और

लोगोंसे भिन्न है। वह किसी भी अवस्थामें हों, आध्यात्मिक ज्ञान की ओर उसी प्रकार आकृष्ट होंगे जैसे लोहा चुम्बककी ओर खिंचता है। परन्तु साधारण मनुष्यके लिये यह बात लागू नहीं है। जो मनुष्य भूख-प्याससे मर रहा है, जो अपनी आँखोंके सामने अपने बच्चोंको बिलखते और तड़पते देखता है, जो पदे पदे ठोकर खाता है उससे आत्मज्ञानकी बात करना उसका मुंह चिढ़ाना है। नंगे भूखे दलितोंका उत्सर्ग और संयमका पाठ पढ़ाना मनोविज्ञानकी हंसी उड़ाना है। यह हो सकता है कि ऐसे निःसहाय लोग तोतेकी भांति 'निर्बलके बल राम' और 'निर्धनके धन राम' की रट लगाने लगें। यह तो बहुधा होता है कि चतुर राजपुरुष और धनिक धर्माध्यक्षोंको अपने पैसेके बल पर खरीद कर निर्धनोंके असन्तोष को रोकनेके लिये उनको परलोककी याद दिलवाया करते हैं। पर इस प्रकारका मजहब तो अपने दुःखोंको थोड़ी देरके लिये भुला देनेके लिये नशा है। उससे जो एक प्रकारकी आत्मविस्मृति होती है वह उससे भिन्न नहीं है जो गाँजा पीनेवालेको कुछ देरके लिये हो जाती है। उसमें और सच्ची आध्यात्मिक उन्नति में आकाश पातालका अन्तर है।

प्राचीन कालसे आचार्य्य लोग सद्धर्मकी शिक्षा देते आये हैं पर उसका प्रभाव थोड़ेसे व्यक्तियों पर ही पड़ सका। इसका कारण यही है कि समाजकी व्यवस्था ठीक न थी। अपने आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक बन्धनोंसे छुटकारा पानेका प्रयत्न इतना थका डालता था कि और बातोंकी ओर चित्त

जाता ही न था। परन्तु यदि उन बातोंकी ओर ध्यान दिया जाय जिनकी ओर पिछले अध्यायोंमें संकेत हुआ है तो लोगोंको सांस लेनेका, सभ्य मनुष्योंकी भांति रहनेका, विचार करनेका अवकाश मिले। विचार करने, मनन करने से ही आध्यात्मिक ग्रंथियोंके सुलझानेका मार्ग खुलता है।

एक और भी बात है। सुव्यवस्थित राजमें प्रलोभनोंमें पड़नेके, स्वार्थसिद्धिके, कटु प्रतिस्पर्धाके अवसर कम और निःस्वार्थ निष्काम सेवा, परार्थ चिन्तन और आत्मोत्सर्गके अवसर अधिक होंगे। ऐसे लोगोंके उदाहरण बड़ी संख्यामें सामने होंगे अपनेको विराटमें खो देने और इस प्रकार मैं—तूके भेदको भुलानेका अभ्यास बढ़ेगा चित्तकी वृत्ति भेदसे खिंच कर अभेदकी ओर अधिक जायगी।

स्वाधीनता, बन्धनमुक्तता, आत्माका स्वभाव है। जितना ही स्वाधीनताके साथ रहनेका अवकाश मिलता है उतना ही अपना स्वरूप अपने सामने आता है। स्वाधीन जीवनमें ही व्यक्तिका व्यक्तित्व लिखता है, अन्यथा वह दबा रहता है। अपने व्यक्तित्वका पूरा खिल जाना ही कैवल्य है।

राजको अनुकूल परिस्थितियोंको उत्पन्न करके व्यक्तिको आत्मज्ञानकी पहली सीढ़ीपर खड़ा कर देना चाहिये। यही उसकी सार्थकता है। इसके आगे व्यक्तिका अपना अध्यवसाय है।

॥ इति शम् ॥